

संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती

रजि0 पंजीकरण सं0 : एल - 1277

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

अगस्त – अक्टूबर 2004

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

मूल्य	१०० रुपये वार्षिक
विक्रमी सम्वत्	**२०६१**

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका



प्रो. स्वतंत्र कुमार जी
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति को सारस्वत सम्मान

पंजाब हिन्दी साहित्य अकादमी ने जालन्धर में आयोजित एक भव्य समारोह में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति प्रो0 स्वतन्त्रकुमार को **'श्री वीरेन्द्र सारस्वत सम्मान'** से सम्मानित किया। यह सम्मान प्रो0 कुमार को भारतीय संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए दिया गया है। पंजाब के शिक्षामन्त्री श्री जौहर ने देश के गणमान्य व्यक्तियों की गरिमामयी उपस्थिति में तालियों की गड़गड़ाहट के बीच प्रो0 स्वतन्त्रकुमार को शाल ओढ़ाकर तथा प्रशास्तिपत्र प्रदान कर सम्मानित किया।

अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सुखों की इच्छा त्यागकर समाज एवं राष्ट्र की सेवा का संकल्प धारण करने वाले माननीय कुलपति जी मान, अपमान की चिन्ता न करते हुए अहर्निश कुलमाता, वेद एवं आर्यसमाज की सेवा में संलग्न रहते हैं। सरल, सहज, सौम्य एवं निश्च्छल व्यक्तित्त्व के धनी प्रो0 स्वतन्त्रकुमार जी को अहंकार छू नहीं-पाता है। भारत की प्रसिद्ध शिक्षणसंस्था गुरुकुल कांगडी वि0 वि0 के प्रतिष्ठित कुलपति पद पर आसीन होते हुए भी वे स्वयं को महर्षि दयानन्द एवं आर्यसमाज का सेवक मानते हैं। प्रो0 स्वतन्त्र कुमार आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के लोकप्रिय महामन्त्री एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ अधिकारी हैं। इससे पूर्व भी अनेक सामाजिक, शैक्षिक साहित्यिक संस्थायें प्रो0 स्वतन्त्र कुमार को सम्मानित कर चुकी हैं।

उनकी इस उपलब्धि पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय परिवार के सदस्यों ने अपने प्रिय कुलपति को हार्दिक बधाईयाँ दी हैं।

हम **गुरुकुल पत्रिका परिवार** की ओर से अपने मान्य कुलपति जी को बधाई एवं शुभकामनाएं प्रदान करते हुए उनके उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घायु, पारिवारिक सुखसमृद्धि एवं चन्द्रोज्ज्वल कीर्ति की कामना करते हैं।

प्रो0 महावीर
सम्पादक

दयानन्द का आर्थिक चिन्तन

19 वीं सदी के महापुरुषों में स्वामी दयानन्द का अन्यतम स्थान है। उनके बहुआयामी व्यक्तित्व में जहाँ अप्रितम धर्माचार्य, निर्भीक समाज सुधारक, राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक तथा सर्वविध शोषण के विरोध में आवाज उठाने वाले एक तेजस्वी के दर्शन होते हैं वहीं उनका आर्थिक चिन्तन भी परिलक्षित होता है। स्वामी दयानन्द के आर्थिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में मुख्य रूप से वेद, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, शुक्रनीति और कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थ हैं।

दयानन्द का आर्थिकदर्शन उनकी राष्ट्रीय एवं राजनीतिक विचारधारा से ही संबद्ध रहा है। भारतवासियों की घोर दरिद्रता, कृषक वर्गका भयंकर शोषण, मध्यम स्तर का जीवन व्यतीत करने वाले नागरिकों के दुःखों और कष्टों को देखकर उन्होंने न जाने कितनी बार व्याकुलता प्रकट की थी। जिस दयानन्द ने अपनी सगी बहन की मृत्यु को देखकर आसूँ नहीं बहाये, वह उस विधवानारी की अभावग्रस्त जिन्दगी को देखकर अश्रु-धारा प्रवाहित कर बैठा जिसे अपने ही मृत शिशु का तन ढंकने के लिये एक गज कफन नसीब नहीं हुआ था। उनके जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए हैं जब हम देखते हैं कि सांसारिक माया ममता से नितान्त पृथक् रहकर, परिव्राजक का निस्संग जीवन व्यतीत करने वाला यह निरीह संन्यासी देश की आर्थिक अवनति को देखकर रो पड़ता था। वस्तुतः स्वामी दयानन्द ने यह अनुभव कर लिया था कि विदेशी शासक जिस नीति से शासन कर रहे हैं उनके परिणाम स्वरूप यदि यह देश आर्थिकदृष्टि से दिवालिया भी हो जाए तो, कोई आश्चर्य नहीं।

देश को आर्थिकदृष्टि से समृद्ध देखना स्वामी दयानन्द का सुन्दर सपना था। उनकी एतद्विषयक कुछ योजनाएं थीं जिन्हें वे क्रियान्वित भी करना चाहते थे। प्रथम तो वे यह अनुभव करते थे कि यूरोप में औद्योगिकरण की जो लहर उठी है, उससे संसार का कोई भी देश अछूता नहीं रहेगा। भारत में भी उन दिनों नाना प्रकार के कल-कारखानों की स्थापना हो रही थी और देशवासी विभिन्न कलाकौशल तथा उद्योगों में प्रगति कर रहे थे। स्वामी जी की यह हार्दिक इच्छा थी कि यूरोप में जिस विज्ञान और तकनीक का प्रचलन हो रहा है, उसे देशवासी भी सीखें उसका प्रशिक्षण प्राप्त करें, तत्पश्चात् स्वदेश लौटकर उस ज्ञान के द्वारा देश को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनाएं। इसी विचार से उन्होंने जर्मनी के एक शिक्षा शास्त्री और औद्योगिक सलाहकार प्रो. जी.वीज से विस्तृत पत्राचार भी किया। उक्त प्रोफ़ेसर ने उन्हें यह विश्वास दिलाया था कि यदि भारत के कुछ नवयुवक इस प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये जर्मनी आयेंगे तो वह उनको सब प्रकार की सुविधा प्रदान करेगा। संभवतः अन्य कार्यों में व्यस्त रहने और 1883 में ही दिवंगत हो जाने के कारण वे इस कार्य को आगे नहीं बढ़ा सकें।

एक ओर स्वामी दयानन्द वाणिज्य में सर्वविध विकास के पक्षधर थे तो दूसरी ओर कुटीरउद्योग तथा ग्रामीण अर्थतंत्र को विकसित करना चाहते थे। उन्होंने गौवध विरोध का जो महाअभियान चलाया था उसके पीछे किसी प्रकार की गलदश्रुभावुकता या धार्मिक भावावेश नहीं था। गौरक्षा की ही भाँति वे बैल, भैंस, बकरी आदि उन सभी पशुओं के संरक्षण को महत्व देते हैं जो भारत के ग्रामीण अर्थशास्त्र की रीढ़तुल्य है। गौरक्षा के पीछे उनकी विशुद्ध आर्थिक चिंता ही कार्यरत थी।

दयानन्द ने किसानवर्ग को बहुत ऊंचा स्थान और सम्मान दिया था। उन्होंने लिखा- - यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। वे कृषि को भारत की आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार मानते थे। राजस्थान के उदयपुर, शाहपुरा तथा जोध पुर के शासकों को उपदेश देते हुए उन्होंने इस बात पर अधिक बल दिया कि अपने प्रजाजनों की आर्थिक समृद्धि को सुनिश्चित करना उनका एकमात्र और परमकर्तव्य है। शाहपुराधीश राजाधिराज नाहर सिंह को तो अपने राज्य के कतिपय व्यावहारिक सुझाव भी उन्होंने दिये थे। उदयपुर के महाराणा सज्जन सिंह को अपने एक पत्र में स्वामी जी लिखते हैं- - कृषक और मजदूरों का शोषण न हो, आप उनका पालन पुत्रवत् करें। (1)। उसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने लिखा कि राजाओं के राजा किसान..........किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें (2)।

स्वामी दयानन्द के आर्थिकचिन्तन को समझने के लिये उनके द्वारा प्रतिपादित समाज और राज्य-व्यवस्था को प्रथम समझना चाहिए तभी हम उनके आर्थिक चिन्तन पर सम्यग्तया प्रकाश डाल सकते हैं।

स्वामी दयानन्द ने समाज व्यवस्था को वर्णाश्रम के माध्यम से व्यक्त किया है। आश्रम की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं ''जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जाएं उनको आश्रम कहते हें।'' इस तरह उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम करने के लिये आश्रम-व्यवस्था है। प्रत्येक आश्रम के अपने-अपने कर्तव्य कर्म निश्चित हैं।

स्वामी दयानन्द के अनुसार केवल गृहस्थआश्रम ही अर्थोपार्जन से संबंध रखता है। ऋषि ने मनुस्मृति के आधार पर **संस्कार विधि** के गृहस्थाश्रम प्रकरण में गृहस्थ की महत्ता और उसके दायित्व का उल्लेख करते हुए लिखा है........

(1) जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्य प्रति गृहस्थ धारण, पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सबसे बड़ा है।

(2) जैसा वायु के आश्रय से सब जीवो का वर्तमान सिद्ध होता है वैसे गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ के आश्रय से होता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द गृहस्थ के अतिरिक्त तीनों आश्रमियों को अर्थोपाज्रन से मुक्त मानते थे और इनके धारण, पोषण और पालन का दायित्व गृहस्थ को स्वीकार करते थे।

---

(1) ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ0 631

(2) सत्यार्थ प्रकाश, षष्ठ समुल्लास

स्वामी दयानन्द ने वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं बल्कि गुण कर्म स्वभाव से स्वीकार की है। वर्णव्यवस्था में गुण का अर्थ है योग्यता, कर्म का अर्थ है व्यवसाय तथा स्वभाव का अर्थ है आदत। इस प्रकार योग्यता, व्यवसाय और आदत वर्ण का निर्णय करते है। उससे स्पष्ट होता है कि वर्णव्यवस्था का संबंध सिर्फ गृहस्थ से है क्योंकि यह आजीविका का आधार है। अन्य तीन आश्रम जीविकोपार्जन से मुक्त रखे गये हैं। अत: वर्णव्यवस्था का संबंध मात्र गृहस्थ से है। प्रत्येक वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अपने-अपने कर्तव्य कर्मों का निर्धारण ऋषि ने अपने ग्रंथों में मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र के आधार पर किया है।

स्वामी जी के अनुसार धनोपार्जन में धन की पवित्रता प्रमुख है। अधर्म से कमाया धन या तो प्रयोग में नहीं आता या तीन पीढ़ी के आगे नहीं जाता। इसके विपरीत धर्म एवं न्याय से कमाया हुआ धन अक्षय धन होता है उसका योग प्राप्त होता है तथा सुपात्रों को दिया हुआ ऐसा पवित्र धन काफी फलता-फूलता है। अत: धन धर्म से कमाना ही उचित है यही गृहस्थ एवं वर्णों के लिये उत्तम है।

दयानन्द द्वारा प्रदर्शित राज्य व्यवस्था में ग्राम से लेकर देश तक तीन प्रकार के कार्य करने के लिये तीन सभाओं का होना आवश्यक है। न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रसार देखना इनका मुख्य कार्य है। कहीं भी दोष पैदा हो तो उन पर नियंत्रण रखना राजा का कार्य माना जाता है। धर्मार्यसभा विद्यार्य सभा एवं न्यायार्यसभा इन तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिए एक मनुष्य को कभी नहीं।[1]

महाराणा सज्जन सिंह को स्वामी जी ने लिखा था.........''अपने आत्मा का शरीर को राजा वा अधिकारी न समझें किन्तु राजनीति को ही राजा और राज्याधिकारी मानें''

इस तरह स्वामी दयानन्द के अनुसार राजा का पद वंशानुगत न होकर निर्वाचन का है। विद्वान् और धर्मात्मा सभासद ही राजा का निर्वाचन करते हैं।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि वर्णाश्रम पर आधारित वैदिक व्यवस्था में धन का मर्यादित महत्व है। धन कमाने की समय सीमा सिर्फ 25 से 30 वर्ष की आयु तक सिर्फ विभिन्न गृहस्थ वर्णी के लिये नियत है। गृहस्थ ही अर्थोपार्जन की चिन्ता करता है। अन्य आश्रमी नहीं।

आर्थिक चिन्तन में मुख्य रूप से कृषि, उद्योग, सम्पत्ति का वितरण तथा करनीति एवं गौण रूप से बेकारी और मूल्य विचारणीय है। देश और काल के अनुसार थोड़े बहुत परिवर्तन की गुंजाइश हो सकती है किन्तु मोटे तौर पर सारे देश और भूगोल के लिये एक जैसी नीति होगी। चूंकि स्वामी दयानन्द ने शाश्वत मूल्यों का वर्णन किया है। अत: उनके विचार को सारे भूगोल के लिये उचित समझना चाहिए।

ऋषि दयानन्द मानते हैं कि विश्व में दो ही जीवन के मूल हैं, एक अन्न और दूसरा पान। अन्न का संबंध कृषि से और पान का संबंध दुग्ध आदि से है। ऋषि ने कृषि के अन्तर्गत पांच कामों को गिना है.....

(1) ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका

(क) **खेती की विद्या का जानना।**

(ख) **अन्न आदि की रक्षा**

(ग) **खाद, और**

(घ) **भूमि की परीक्षा**

(ङ) **जोतना बोना**

खेती की विद्या के अन्तर्गत मौसमविज्ञान तथा वर्षा की जानकारी प्रमुख हैं। अतः कृषक को इसकी सही जानकारी होनी चाहिए। अन्न आदि की रक्षा से तात्पर्य फसलों के टिड्डी आदि कीड़े-मकोड़े से रक्षा तथा चूहे आदि हल्के जानवरों से रक्षा है। कृषक को अन्नरक्षा के विविध उपायों को जानना चाहिए।

खाद की परीक्षा एक प्रमुख पक्ष है। ऋषि ने यजुर्वेद भाष्य में लिखा है[1]-- "खेती में विष्ठा आदि मलीन पदार्थ नहीं डालने चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि वे मानव मलमूत्र के प्रचलित खाद जिसे स्वर्ण एवं रजत खाद भी कहा जाता है-- के प्रयोग के विरोधी हैं। संस्कारित बीज के प्रयोग की बात करते हुए ऋषिवर लिखतें हैं-- "बीज दुर्गन्ध आदि से मुक्त करके ही बोये।" अगले मंत्र के भावार्थ में भी ऋषि ने इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। खाद-बीज की पवित्रता से अन्न की पवित्रता होती है।

भूमि परीक्षा पूर्णतः वैज्ञानिकप्रक्रिया है। एक मन्त्र के भावार्थ में ऋषि ने लिखा है " किसान लोग विद्या से अनुकूल घी, मीठा ओर जलन आदि से संस्कार कर स्वीकार की हुई खेत की पृथ्वी को अन्न को, सिद्ध करने वाली करे। जैसे बीज सुगन्धि आदि युक्त करके बोते हैं वैसे इस पृथ्वी को भी संस्कार युक्त करे ।"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि खेत भी संस्कारित होते हैं।

जमीन का जोतना-बोना भी एक विज्ञान है। हलों का प्रयोग इसी प्रयोजन से है। एक मन्त्र के भाष्य में वे लिखते है........." हल आदि साधनों से जोत, एकसार कर सुन्दर संस्कार किये बीज बो के उत्तम धान्य उत्पन्न कर भोगें।"

अन्न के साथ पान एक मौलिक आवश्यकता है। दूध इसका सफल उदाहरण है। गौ का तात्पर्य पशुमात्र है। ऋषि दयानन्द ने गौ और करुणायुक्त पुरुष को निधियुक्त माना है। इसी कारण उन्होंने महोपकारक गाय आदि पशुओं को नहीं मारने की बात कही है। **गोकरुणानिधि** के निम्न उद्धरण पर ध्यान दें---

"इनकी रक्षा से अन्न भी मंहगा नहीं होता क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान-पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल

---

(1) देखो, 12/69 का भावार्थ

(2) देखो, वही 12/60 का भावार्थ

की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है। "स्वामी जी ने पशुओं के उपकारों को इस प्रकार परिगणित किया है---

(क) निस्सार घास-तृण-पत्ते फल फूल आदि खाकर अमृतरूप दूध देते हैं

(ख) हल तथा गाड़ी में लगकर अन्न उत्पादन बढ़ाते हैं।

(ग) पुत्र-पुत्री तथा मित्रवत् विश्वास और प्रेम करते हैं।

(घ) मरने पर चमड़ा अनेकविध काम का होता है।

(ङ) आवश्यकता पड़ने पर अपने स्वामी की रक्षा भी करते हैं।

जीविका के साधनों में उद्योग का स्थान महत्वपूर्ण है। ऋषि दयानन्द भौतिक उन्नति के लिए शिल्प तथा विज्ञान के प्रयोग में विश्वास रखते थे। वे मानते हैं कि बिना शिल्प उद्योगों के गरीबी नहीं हटायी जा सकती। एक पत्र में उन्होंने लिखा था --"यह अब स्पष्ट है कि बहुत से पढ़े लिखें लोगों को भी नौकरी नहीं मिलती या वे जीवननिर्वाह का प्रबन्ध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था देखकर मैं सब कला-कौशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूँ। प्रत्येक पुरुष को अपनी आय का सौंवा भाग प्रस्तावित संस्था को देना चाहिए। उस धन से चाहे तो विद्यार्थी कला-कौशल सीखने जर्मनी भेजे जाएं या वहाँ से अध्यापक यहाँ बुलाये जाएं।"[1]

30 नवम्बर 1880 को लिखे गये उपर्युक्त पत्र से स्वामी दयानन्द की कलाकौशल के प्रचार-प्रसार की व्याकुलता झलकती है। इसके लिए उन्होंने जर्मनी तथा इंगलैन्ड से पत्राचार किये थे। जर्मनी के जी0वाइज द्वारा ऋषि को नौ पत्र लिखे गये थे।

वर्ण व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को योग्यता प्राप्त करने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है। योग्यता के अनुरूप जीविका के साधन भी उपलब्ध होते हैं। जब लोगों की योग्यता, क्षमता और शक्ति में अंतर होगा तो उसके पारिश्रमिक में भी अंतर होगा। इस बात को समझने के बाद किसी भी योग्य व्यक्ति को पारिश्रमिक की भिन्नता के कारण न तो आक्रोश होगा और न वितृष्णा। सभी अपनी-अपनी योग्यता और कर्म के अनुसार फल प्राप्त कर सकेंगे। इस व्यवस्था में संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की बात स्वीकार की जाती है, कमाने वाला सम्पत्ति का स्वामी होगा -- इसके पीछे भावना यह है कि मैं कमाता हूँ और यह मेरी सम्पत्ति है। इस ममत्व के कारण व्यक्ति सम्पत्तिको कमाने और बढ़ाने में खूब परिश्रम करता है लेकिन सम्पत्ति पर यह अधिकार निरपेक्ष नहीं है। यदि आपका कमाया हुआ धन समाज और राष्ट्र के काम आ रहा है तब तो ठीक है, अन्यथा यह आपके पास नहीं रहेगा। राज्य इसे छीनकर दूसरे सदुपयोगकर्त्ता के पास पहुंचा देगा। ऋषि दयानन्द के मतानुसार सम्पत्ति पर अधिकार व्यक्तिगत सापेक्ष है। सन्तान उसे उत्तराधिकार में तभी प्राप्त कर सकेगी जब उसे सम्भालने और धर्मानुसार उपभोग की योग्यता हो अर्थात् पिता के गुण-कर्म-स्वभाव वाली सन्तान ही उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होगी। इसके विपरीत यह सम्पत्ति वैसे ही गुणकर्म स्वभाव वाले अन्य संतान को प्राप्त हो जएगी।

राज्यप्रबन्ध तो धन से ही होता है। इसके लिए राज्य कर-नीति लागू करता है। प्राचीन समय

(1) ऋषि दयान्द के पत्र व विज्ञापन, प्रथम भाग, पृ0 450, सं. पं. युधिष्ठिर मीमांसक 1981

में थोड़ा-थोड़ा कर लेने की परिपाटी थी ताकि करदाता को भी भान न हो तथा उसका मूलनष्ट न हो जाए। मनुस्मृति के हवाले से ऋषि दयानन्द ने करनीति के सिद्धान्त का वर्णन इन शब्दों में किया है--

''जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मछली को पकड़ने को तत्पर है, वैसे अर्थ-संग्रह का विचार करें।''

''जैसे जोंक, बछड़ा और भ्रमरा थोडे-थोड़े पदार्थ को ग्रहण करता है वैसे राजा प्रजा से थोड़ा थोड़ा वार्षिक कर लेवे।'' इन उदाहरणों से कई बातें स्पष्ट होती हैं--

(क) अर्थसंग्रह के लिए उद्देश्य की एकाग्रता जरूरी है।

(ख) कर थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए ताकि करदाता को कष्ट न हो।

(ग) कर का संग्रह वार्षिक होना चाहिए इससे वसूलने का बेकार खर्च न होगा।

संक्षेप में स्वामी दयानन्द के आर्थिकचिन्तन पर उपर्युक्त पंक्तियों से प्रकाश पड़ता है। जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं स्वामी दयानन्द पुरुषार्थ चतुष्टय के पूर्ण विद्वान् थे। वे अर्थ के भी उतने ही विद्वान् थे जितने कि धर्म के। वे भौतिकता के भी उतने ही समर्थक थे जितने की आध्यात्मिकता के।

दयानन्द का यह आर्थिकचिन्तन वेद के आधार पर शाश्वत सत्य वचनों पर आधारित है। यह सत्य है। दुनिया अपने विचार तथा कर्म से दु:खी होकर दयानन्दीय उक्त चिन्तन को मानने के लिए शीघ्र ही विवश होगी क्योंकि आज समाजवादी विचारधारा (Comunism)मानव प्रकृति के विपरीत होने से 70 वर्षों के भीतर ही धराशायी हो चुकी है। पूंजीवादी व्यवस्था लोभ, लिप्सा और संचय के कारण टूट के कगार पर है। भोगवादी प्रवृत्ति ने इन्हें विलासी, कामुक और उच्छृंखल बना दिया है वे अपनी खोदी खाई में स्वयं गिरने वाले हैं।

प्रो० स्वतन्त्र कुमार
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार



पंजाब केसरी पत्र समूह के चेयरमैन श्री विजय चोपड़ा का सम्मान करते हुए
कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी साथ में खड़े हैं प्रो. वेदप्रकाश जी शास्त्री



पत्रकारिता विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में एक कार्यक्रम में पंजाब केसरी पत्र समूह के चेयरमैन श्री विजय चोपड़ा के साथ मंच पर बैठे हैं कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी

वेदमञ्जरी

पार्थिवस्य लोकस्य द्युलोकस्य च व्यवस्थापकः

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते
ऽति विश्वं ववक्षिथ॥ ऋग् १.८१.५

ऋषिः गोतमःराहूगणः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** पङ्क्तिः।

इन्द्रो नाम परमेश्वरः (**आ पप्रौ**) आपूर्णं कृतवान् (**पार्थिवं**) पृथिवीतत्त्वबहुलं (**रजः**) लोकम्, (**बद्बधे**) बद्धं कृतवान् (**रोचना**) रोचमानानि नक्षमाणि (**दिवि**) द्युलोके। (**न**) नास्ति (**त्वावान्**) त्वत्सदृशः (**इन्द्र**) हे परमेश्वर (**क श्चन**) को ऽपि, (**न**) नापि (**जातः**) उत्पन्नः, (**न**) न च (**जनिष्यते**) उत्पत्स्यते। त्वम् (**विश्वं**)ब्रह्माण्डम् (**अति**) अतिक्रम्य (**ववक्षिथ**) महान् असि।

हे इन्द्र! अयि परममहिमशालिन् जगदीश्वर! वयं क्षुद्रमानवास्तव महिम्नः पारं प्राप्तुं कथं शक्नुमः। त्वं पार्थिवं लोकमपि परिपूर्णं कृतवानसि द्युलोकं चापि। त्वया पृथिवीलोके चामत्कारिका बहुमूल्याः पदार्था भरिताः। मृज्जलपवनवह्न्यादीनि लघूनि प्रतीयमानानि द्रव्याणि एतावद् मूल्यवन्ति सन्ति यद् वयं तैर्विना जीवनं धारयितुं न शक्नुमः। त्वं पृथिव्यां हिमगिरीन् स्थापितवान्, त्वं सुरभिकुसुमान् क्षुपान् रोपितवान्, त्वं फलवतो बहुलच्छायान् तरून् उत्पादितवान्, त्वम् आरोग्यकारिणीः ओषधीः विविधानि अन्नानि च जनितवान्, त्वं कलकल निनादिनीः स्वच्छतोयाः सरितः प्रवाहितवान्, त्वं पर्वतेषु झरझरझरितान् निर्झरान् झारितवान्। त्वं पृथिव्या गर्भे हीरकहिरण्यरजतलौहादिधातून्, गन्धकलवणादिखनिजान्, पार्थिवसुद्रस्य शुक्तिषु च मुक्ताफलानि घृतवान्। त्वं मधुराम्लकटुकषायादिरसान् उत्पादितवान्। एतत् तव पाथिवं कर्तृत्वं वयं कथं विस्मर्तुं शक्नुमः। त्वयाऽन्तरिक्षे दिवि च सूर्यचन्द्रग्रहोपग्रहविद्युदादयो दीप्तिमन्तः पदार्था जनिताः। त्वयैव च गगनतले भास्वराणि नक्षत्राणि योजितानि। त्वम् आकाशे बहुभारवतोऽगणितान् ज्योतिष्मतः पिण्डान् रज्जुं विनैव लम्बितवान्, तत्सकाशाच्च अपरिमितं प्रकाशं चतुर्दिक्षु विक्षिपसि।

अयि परमकलाविद्! त्वत्सदृशः कलाकारो नाद्यावधि जातो, नच जनिष्यते। भ्रान्तास्ते जना ये बहून् देवान् कल्पयित्वा परस्परं कलहायन्ते, यद् वयं शिवानुयायिनः, वयं विष्णोरुपासकाः, वयं ब्रह्मणः आराधका इति। वस्तुतः हे इन्द्र! त्वमेव नैकानि नामानि द्यारयसि। त्वमेव ब्रह्मा, त्वमेव विष्णुः, त्वमेव मित्रः, त्वमेव भगः, त्वभेव कालः। हे अनन्तमहिम। त्वत्सदृशो महान्, त्वत्सदृशो विश्वस्रष्टा, त्वत्सदृशो दिश्वभर्ता, त्वत्सदृशश्च विश्चत्राता कोऽप्यन्यो नास्ति। त्वं सकलं जगदतिक्रम्य महत्तमोऽसि।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय..............

कुलमाता के यशस्वी पुत्र : महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित

26 सितम्बर 2004, उत्तरांचल के इतिहास का स्वर्णिम दिन, यानि उत्तरांचल सरकार द्वारा 20 दिसम्बर 2002 को संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विकास एवं प्रचार-प्रसार हेतु गठित उत्तरांचल संस्कृत अकादमी द्वारा देश के ख्यातनामा, प्रतिष्ठित वयोवृद्ध विद्वानों के संस्कृत-सम्मान से अलंकरण का दिन, वह भी देवस्थली हरिद्वार में देश के राष्ट्रपति महामहिम डॉ0 ए0पी0जे0अब्दुल कलाम के करकमलों द्वारा। यही था वह शुभ दिन, जिस दिन मुख्यमंत्री श्री नारायणदत्त तिवारी ने हरिद्वार में उत्तरांचल संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की भी घोषणा की।

उत्तरांचल प्राचीन काल से ही संस्कृत शिक्षा, साहित्यरचना, दर्शन, व्याकरण, कर्मकाण्ड के क्षेत्र में समृद्ध रहा है, जिसका श्रेय अंचल के विभिन्न नगरों, विशेष रूप से हरिद्वार में स्थित संस्कृत पाठशालाओं, महाविद्यालयों एवं गुरुकुलों एवं उनमें कार्यरत विद्वन्मंडली को जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए उत्तरांचल संस्कृत अकादमी ने विद्वानों को सम्मानित करने की योजना को कार्य रूप देने का निर्णय किया। घोषित सात सम्मानों में से चार केवल उत्तरांचल के विद्वानों के लिए तथा शेष तीन अन्ताराष्ट्रीय राष्ट्रीय स्तर के विद्वानों के लिए नियत किये गए। अन्ताराष्ट्रीय पुरस्कार का नाम हिमाद्रि उत्तराञ्चल संस्कृत सम्मान तथा राष्ट्रीय पुरस्कारों का नाम बदरीश एवं भागीरथी उत्तरांचल संस्कृत सम्मान रखा गया, जब कि उत्तरांचल राज्य स्तरीय सम्मान अंचल में संस्कृत के गौरव को बढ़ाने में अथवा संपूर्ण जीवन समर्पित करने वाले श्रेष्ठ विद्वानों-पं. मदनमोहन मालवीय, पं0 बालकृष्ण भट्ट, पं0 लोकरत्न गुमानी एवं पं0 सदानन्द डबराल-के नाम पर घोषित किये गए।

विभिन्न सूचना माध्यमों से योजना के बहुप्रचारित हो जाने के बाद प्राप्त 50 प्रविष्टियों पर विचार करने के लिए एक उच्च्व स्तरीय समिति का गठन किया गया। इस समिति ने गहन विचार विनियय के बाद संस्कृत-पयोधि से नवरत्नों को सम्मान हेतु चुना, जिनके नामों की घोषणा अकादमी के अध्यक्ष एवं मुख्यमंत्री माननीय नारायणदत्त जिवारी के अनुमोदनोपरांत की गई। ये 9 विद्वान् है: पद्मश्री डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री एवं प्रो0 वशिष्ठ त्रिपाठी(अत्तर्राष्ट्रीय हिमार्द्रि उत्तरांचल संस्कृत सम्मान संयुक्त रूप से) आचार्य डॉ0 रामनाथ वेदालंकार (राष्ट्रीय बदरीश उत्तरांचल संस्कृत सम्मान), प्रो. डी.डी. शर्मा एवं डॉ0 कृष्ण कुमार (राष्ट्रीय भागीरथी उत्तरांचल संस्कृत सम्मान, संयुक्त रूप से),प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री (उत्तरांचल राज्य महामना मदनमोहन मालवीय उत्तरांचल संस्कृत सम्मान), आचार्य प्रो0 मनसाराम शर्मा (उत्तरांचल राज्य कविवर गुमानी उत्तरांचल संस्कृत सम्मान), डॉ0 जयदत्त उप्रेती(उत्तरांचल राज्य बालकृष्ण भट्ट उत्तरांचल सम्मान) तथा डॉ0 मथुरादत्त पाण्डेय(उत्तरांचल राज्य सदानन्द डबराल उत्तरांचल संस्कृत सम्मान)।

26 सितम्बर सायम् 6 बजे, भारत हैवी इलेक्ट्रिकल रानीपुर का विशाल कन्वेन्शन हाल, प्रदेश के मुख्यमंत्री माननीय नारायणदत्त तिवारी के साथ भारत के राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम का पदार्पण, नन्हें-मुन्नों बच्चों द्वारा राष्ट्रीय गान का गायन, मंच पर उपस्थित आदरणीय मुख्यमंत्री

जी, अकादमी के उपाध्यक्ष ब्रह्मचारी ब्रह्मस्वरूप, अपर मुख्य सचिव श्री एम. रामचन्द्रन आदि द्वारा महामहिम का स्वागत, दीप-प्रज्वलन तथा अकादमी के वरिष्ठ सदस्य डॉ0 महावीर अग्रवाल द्वारा राष्ट्रपति के प्रति अभिनन्दन-पत्र-वाचन एवं भेंट; मुख्यमंत्री जी द्वारा स्वागत-भाषण तथा उत्तरांचल सरकार एवं अकादमी की ओर से स्मृति- चिन्ह भेंट! इन समस्त औपचारिकताओं के बाद आखिर वे क्षण आ ही गये जब उपर्युक्त सभी वयोवृद्ध विद्वानों को एक-एक करके मंच पर आमंत्रित कर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय देते हुए राष्ट्रपति जी के संबोधन को, जिसमें उन्होंने कहा-"वेद व्यास की भूमि पर आकर संस्कृत के बारे में बातचीत करते हुए वे बहुत गौरवान्वित हो रहे हैं। संस्कृत बहुत महान् भाषा है तथा वर्तमान दौर में तो पूरे विश्व में इसके ज्ञान की मांग बढ़ गई है। आवश्यकता है कि भारत में वेदों पर गहन अनुसंधान हो ताकि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अतीत में संजोये ज्ञान के भंडार को जोड़ा जा सके। संस्कृत अकादमी के पास करने के लिए ऐसे सारे काम हैं। ऐसी डिजिटिल लाइब्रेरी का आज बहुत जरूरत है जिसके अंतर्गत आडियों और वीडियों सीडी के माध्यम से ज्ञान को संचित किया जा सकें। साडण्ड सिस्टम के द्वारा वेदों में छिपे रहस्यों को सहजता के साथ जनसाधारण तक पहुँचाया जा सकता है।" उन्होंने कहा "वेदमन्त्रों में वह शक्ति है जो मस्तिष्क पर प्रभाव डालती है तथा मस्तिष्क कोशिकाओं को ऊर्जावान् बना कर मेधा को जन्म देती है। महामहिम ने कहा कि " बदले हुए जमाने में भारत के इस प्राचीन ज्ञान को उचित माध्यमों से आगे लाया जाना चाहिए। मंत्र-शक्ति के प्रयोग बहुत चमत्कारी है।, अत: यदि वैदिक चैंटिंग को प्रचलन में लाया जाये तो देश पुन: अपने गोरवशाली अतीत की ओर लौट आयेगा।"राष्ट्रपति जी ने अपने भाषण के दौरान अपने साथ लायी वेदमन्त्रों की आडियो सीडी सुनाई तथा श्लोकों व मन्त्रों की गहन व्याख्या करके जनसमुदाय को अभिभूत कर दिया।

आइये, उत्तरांचल संस्कृत अकादमी द्वारा सम्मानित उन कुलपुत्रों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की एक झलक पर दृष्टि डालें, जिनसे न केवल गुरुकुल, बरन् संपूर्ण आर्यजगत् भी अपने को गौरवान्तित अनुभव कर रहा है।

आचार्य डॉ० .रामनाथ वेदालंकार

स्कन्द स्वामी से आरम्भ भारतीय वेदभाष्यकारों की परम्परा में जुड़ा एक नाम है आचार्य रामनाथ वेदालंकार का, जिन्होंने 1990-91 ई0 में महर्षि दयानन्द सरस्वती की शैली, संस्कृत और आर्यभाषा में उन्हीं की विचारसरणी पर सामवेद की भाष्य करके अप्रतिम ख्याति और सम्मान प्राप्त किया। इस भाष्य की महर्षि की भाष्य-शैली से इतनी समरूपता है कि देश के प्रतिष्ठित इतिहासज्ञ एवं 'आर्यसमाज का इतिहास' के प्रधान संपादक डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार ने इस भाष्य को पढ़ कर एकाएक कहा था-"पं0 रामनाथ जी में तो ऋषि की आत्मा आ विराजी है।" इस भाष्य की उत्कृष्टता को स्वीकार कर ही आपको मार्च 2003 में भारतीय विद्याभवन बंगलौर द्वारा गुरु गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुरस्कार से समादृत किया गया था।

लगभग 90 वर्ष पूर्व 7 जुलाई 1914 को बरेली (उ0प्र0) के फरीदपुर नगर में स्वंतत्रतासेनानी

महाशय गोपाल राम एवं माता भगवती देवी के घर जन्मे आचार्य डॉ0 रामनाथ की प्रारंभिक शिक्षा वाराणसी में हुई, तत्पश्चात् नौ वर्ष की आयु में आपका प्रवेश गुरुकुल कांगड़ी में हुआ। आप प्रारम्भ से ही मेघावी एवं प्रतिभा सम्पन्न छात्र थे। आपने सन् 1950 ई0 में आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत साहित्य में प्रथम श्रेणी में तथा विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करते हुए एम.ए.की उपाधि प्राप्त की।

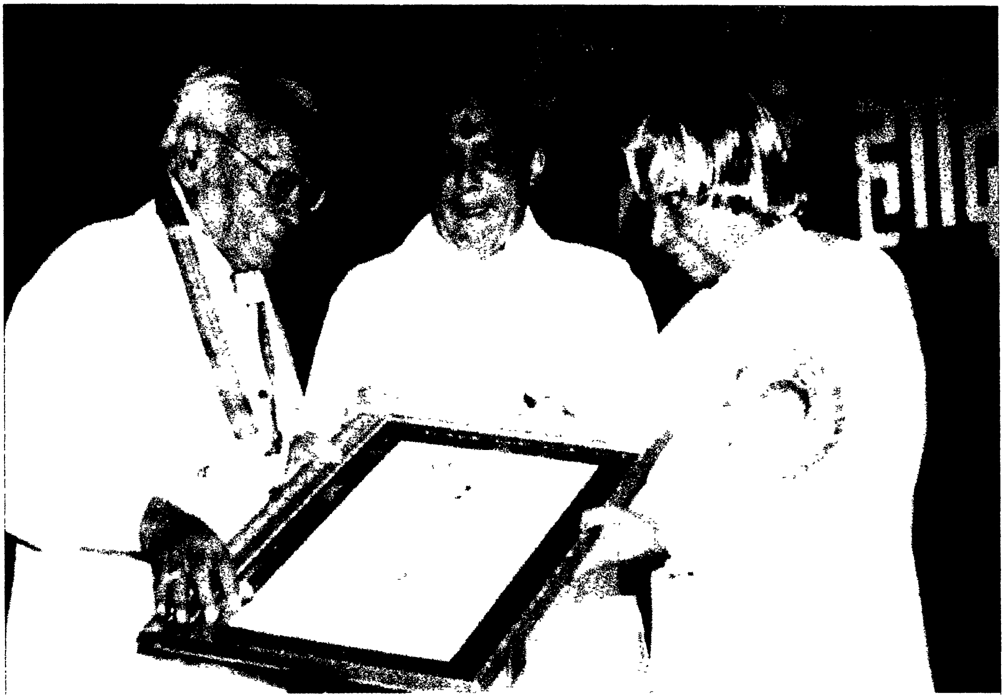
आपको प्रारम्भ से ही वेदों के प्रति अगाध श्रद्धा तथा वैदिक विषयों पर शोध करने में रुचि थी। अत: आपने पीएच.डी. उपाधि के लिए शोघ का विषय **वेदों की वर्णन शौलियाँ**, चुना और 1966 में अगरा विश्वविद्यालय से पीएच.डी. उपाधि प्राप्त की। डॉ. मंगलदेव शास्त्री, पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति आदि विद्वानों ने आपके शोध प्रबन्ध को आद्योपान्त देखा और इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥

सन् 1938 में आप गुरूकुल कांगड़ी के विद्यालय विभाग में शिक्षक नियुक्त हो गये। तदनन्तर कुछ समय वेदानुसन्धानकर्ता के रूप में कार्य किया। 1939 में आप वेद महाविद्यालय में वैदिक साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त हुए तथा 18 वर्ष तक वेदाध्यापन कराते रहे। सन् 1958 में आप संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा कुलसचिव नियुक्त हुए। 1962-63 में आपने कुल सचिव पद से त्यागपत्र दे दिया तथा पूर्ण रूपेण अध्ययन-अध्यापन में व्यस्त हो गये। अप्रैल 1974 में आप वेद एवं कला महाविद्यालय के अध्यक्ष, आचार्य एवं उपकुलपति चुने गये। यद्यपि आप प्राशासनिक दायित्वों से दूर रह कर अपना समय केवल अध्ययन-अध्यापन में लगाये रखना चाहते थे, परन्तु सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा गुरुकुल की विद्यासभा एवं सीनेट के अधिकारियों एवं सदस्यों के आग्रह को दृष्टिगत उखते हुए इसे स्वीकार करना पड़ा। जुलाई 1976 तक आप इस पद पर कार्य करते रहे। इस अवधि में अपने प्राशासनिक दायित्वों को आपने इस कुशलता से निभाया कि जनसामान्य की यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो गयी कि एक अच्छा शिक्षक 'कुशल प्रशासक' नहीं हो सकता है।

आपकी विद्वत्ता, योग्यता एवं वैदिक शोध में अभिरुचि को दृष्टि में रखते हुए सन् 1976 में आपको पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में नवस्थापित महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ के प्रथम प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में मनोनीत किया गया। आपने इसी वर्ष अगस्त मास में उक्त पद का कार्यभार संभाल लिया और अक्टूबर 1979 तक वहाँ कार्य करते रहे। इस अवधि में आपने जहाँ एक ओर महर्षि दयानन्द की वेदार्थ प्रक्रियाओं, उनके शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचारों आदि पर स्वयं अनुसंधानं करके शोधपूर्ण कृतियाँ तैयार की, वहीं दूसरी ओर अनेक छात्रों को वैदिक बाङ्मय से संबधित विषयों पर शोध-कार्य करने का निर्देशन भी प्रदान किया।

साहित्य साधना:-

आचार्य वेदालंकार ने वैदिक वाङ्मय के गंभीर अध्ययन, विशुद्ध अनुशीलन, निष्पक्ष एवं स्वतंत्र चिन्तन के आधार पर अनेक उच्चकोटि के शोधपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आपकी प्रथम कृति वैदिक वीर गर्जना' है, जिसमें वीरता की तरंगों से तरंगित करने वाले वेदमन्त्रों का अर्थ सहित



महामहिम राष्ट्रपति ए.पी.जें. अब्दुल कलाम से सम्मानित होते हुए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक डॉ. कृष्ण कुमार अग्रवाल और साथ में खड़े हैं पीछे श्री ब्रह्मस्वरूप जी ब्रह्मचारी



राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम से सम्मानित होते हुए वेदमनीषी डॉ. रामनाथ वेदालंकार पूर्व उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय और साथ में खड़े हैं श्री ब्रह्मस्वरूप जी ब्रह्मचारी

संकलन किया गया है। इस पुस्तक की रचना एवं प्रकाशन् सन् 1946 में किया गया है। जब देश में स्वतंत्रता आन्दोलन जोरों पर था। इसके बाद सन् 1949 में आपकी दूसरी कृति "वैदिक सूक्तियाँ" प्रकाशित हुई, जिसमें अथर्ववेद से विविध विषयों पर चुनी हुई एक सहस्र सूक्तियाँ अर्थ सहित संकलित हैं।

कालांतर में आप द्वारा वेदार्थ की विविध शैलियों एवं प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के प्रयोजन से लिखी गई "वेदों की वर्णन शैलियाँ" एवं "वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएं" तथा "महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल संबंधी विचार" शीर्षक शोधपूर्ण कृतियाँ वैदिक साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। इसी शृंखला में आपने "वैदिक शब्दार्थ विचार:" नाम से संस्कृत में एक अनुपम ग्रन्थ की रचना की है। इनमें से प्रथम कृति श्रद्धानन्द शोध प्रतिष्ठान गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित हुई थी, जिसका द्वितीय संस्करण हाल ही में श्री घूड़मल प्रह्लादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट हिन्डौन सिटी (राजस्थान) से प्रकाशित हुआ है। शेष रचनाएं महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ चण्डीगढ़ के तत्त्वावधान में विश्वेरानन्द-विश्वबन्धु संस्कृत-भारती-शोध संस्थान होशियारपुर से प्रकाशित हुई है।

पंजाब विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होने के बाद भी आपका स्वाध्याय एवं लेखन का क्रम निर्बाध गति से चलता रहा-अनेक बाधाएँ भी आई, पर वे भी इसमें कोई व्यवधान न डाल सकी। परिणामत: 'वैदिक प्रार्थना पुष्पांजलि,' 'यज्ञमीमांसा', 'वेदमञ्जरी', वैदिक नारी', 'वैदिक मधुवृष्टि', 'आर्ष ज्योति:', 'ऋग्वेद ज्योति:', 'उपनिषद् दीपिका', के रूप में अनेक वैदिक-साहित्य-प्रसून आपकी लेखनी से नि:सृत एवं विविध प्रतिष्ठानों से प्रकाशित हुए। आपके सभी महनीय ग्रन्थ देश-विदेश में लोकप्रिय तथा वैदिक छवि के प्रसारक हैं।

सम्मान:- 'अर्थ','यश' एवं 'सम्मान' की लालसा से नहीं, वरन् 'स्वान्त: सुखाय' तथा वेदों में निहित ज्ञान को वेद-प्रेमियों तक पहुँचाने के उद्देश्य से साहित्य सृजन में व्यस्त आचार्य वेदालंकार को अनवरत वेद-सेवा के लिए सन् 1988 में आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई द्वारा 21000 रुपये के पुरस्कार से तथा 1989 में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से विद्यामार्तण्ड की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। आपके द्वारा संस्कृत के प्रचार-प्रसार एवं विकास कार्य हेतु की गई दीर्घकालीन विशिष्ट सेवा तथा वैदिक साहित्य के शोधपूर्ण ग्रन्थों के प्रणयन के लिए उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा 1990 में 25000 रुपये के विशिष्ट पुरस्कार से आदृत किया गया। दीर्घकालीन संस्कृत सेवा के लिए ही महामहिम राष्ट्रपति श्री के0आर0 नारायणन से विशिष्ट संस्कृत विद्वत्पुरस्कार तथा सामवेद-भाष्य के लिए भारतीय विद्याभवन बैंगलूर से एक लाख रुपये के श्री गुरू गंगेश्वरानन्द वेदरत्नपुरस्कार से सम्मानित किये गए। इसके अतिरिक्त भी आप विभिन्न समाजों एवं संस्थाओं द्वारा सम्मानित किये जाते रहे हैं। हर्ष है कि ऐसी उद्भट प्रतिभा के धनी आचार्यवर को उत्तरांचल संस्कृत अकादमी द्वारा एक लाख रुपये के उत्तरांचल राष्ट्रीय बदरीश सम्मान से अलंकृत किया है।

आपके इस सम्मान से न केवल गुरुकुल, वरन्, देश-विदेश में फैले सैंकड़ों शिष्य एवं आर्यजन भी स्वयं को सम्मानित हुआ अनुभव कर रहे हैं।

डॉ० कृष्णाकुमार आयुर्वेदालंकार

सन् 1945 में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से आयुर्वेदालंकार उपाधि प्राप्त कर चिकित्सा-क्षेत्र में तथा तत्पश्चात् संस्कृत में साहित्याचार्य, एम.ए.,पीएच. डी.एवं डी.लिट् उपाधियाँ प्राप्त करने के साथ ही संस्कृत सेवा के लिए सर्वतोभावेन समर्पित डॉ0 कृष्णकुमार का जन्म 10 फरवरी 1925 को मुरादाबाद में श्री भूषणशरण एवं माता श्रीमती रामप्रिया के घर हुआ था। आपकी प्रारंभिक शिक्षा मुरादाबाद में हुई थी और फिर गुरुकुल में प्रविष्ट हो कर चौदह वर्ष तक अध्ययन करके आपने आयुर्वेदालंकार उपाधि प्राप्त की। इस बीच आपका रुझान देववाणी संस्कृत की ओर होता गया और संस्कृत-शिक्षण के लिए अपेक्षित योग्यताएं अर्जित कर सन् 1962 में आर्य सनातन धर्म कालेज मुजफ्फरनगर में प्रवक्ता पद पर नियुक्त हो गये, जहाँ 1964 तक कार्यरत रहे। आपने 'अम्बिकादत्त व्यास एक अध्ययन' विषय पर पीएच.डी. उपाधि प्राप्त की। 1964 ई0 में आपका चयन राजकीय महाविद्यझलयों के लिए हो गया तथा विभिन्न राजकीय महाविद्यालयों में संस्कृत प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष पद को अलंकृत करते हुए श्रीनगर स्थित गढ़वाल विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष पद को अंगीकार किया। इसप्रकार 31 वर्ष तक अध्यापन एवं अनुसंधान कार्य करने के पश्चात् 1985 में आप सेवानिवृत्त हुए।

डॉ. कृष्णकुमार ने पचास से अधिक शोध-छात्रों का पथप्रदर्शन किया। आपने स्वयं भी विश्व विद्यालय अनुदान आयोग तथा अन्य संस्थानों के सहयोग से अनेक अनुसंधान-कार्य संपादित किये, जिनमें प्रमुख हैं: केदारखण्ड पुराण का संपादन, अनुवाद एवं विवेचनात्मक अध्ययन; संस्कृत रूपकों में जन्तुओं एवं वनस्पतियों की स्थिति, प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास गढ़वाल जनपद के प्राचीन अभिलेख, प्राचीन भारत की राजनीतिक एवं प्राशासनिक संस्थाएं, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति। आपने 50 से अधिक ग्रन्थों की रचना की है जो मुख्य रूप से प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास, अलंकारशास्त्र, वैदिक साहित्य चिकित्साविज्ञान, समालोचनात्मक साहित्य आदि से संबंधि त हैं। आपने मौलिक उपन्यास एवं काव्यग्रन्थ भी लिखें है। तथा विभिन्न कवियों की काव्य कृतियों की व्याख्याएं भी की हैं। आपके अनेक निबन्ध व शोध लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित या आकाशवाणी से प्रसारित हुए हैं। आपकी लेखन-प्रतिभा के कारण गुरुकल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने आपको विद्यामार्तण्ड की मानद उपाधि से समादृत किया था।

आज भी आप सरस्वती-साधना में तत्पर हैं।

आचार्य वेद प्रकाश शास्त्री

महामना मदनमोहन मालवीय उत्तरांचल राज्य संस्कृत पुरस्कार से अलंकृत आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री का जन्म 6 जून 1945 को मुरादाबाद जनपद में श्री फूलचन्द एवं श्रीमती कलावती के यहां हुआ था। आपने गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में प्रारम्भिक संस्कृत-शिक्षा प्राप्त कर होशियारपुर



राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम से सम्मानित होते गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उपकुलपति एवं आचार्य प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री और साथ में खड़े हैं उत्तरांचल संस्कृत अकादमी के उपाध्यक्ष श्री ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मचारी

स्थिर वैदिक शोध-संस्थान से प्रथम श्रेणी में साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की और उसके बाद गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से संस्कृत साहित्य में एम.ए.की उपाधि ग्रहण की।

आचार्य वेदप्रकाश विगत 36 वर्षो से गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रवक्ता, प्राध्यापक आदि पदों को समलंकृत करते हुए वर्तमान में विश्वविद्यालय के आचार्य एवं उपकुलपति (प्रो-वाइसचांसलर) पद पर कार्य कर रहे हैं। आपके निर्देशन में लगभग 30 छात्रों ने अनुसंधान-कार्य करके पीएच.डी. उपाधि प्राप्त की है और अनेक छात्र अब भी शोध कार्य कर रहे हैं। आप उत्कृष्ट वक्ता एवं लेखक हैं। पत्र-पत्रिकाओं में आपके विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित होते रहते हैं। आप देश के अनेक विश्वविद्यालयों की शोध-समितियों एवं चयन-समितियों में आमन्त्रित किये जाते हैं।

सारस्वत कर्म साधना में रत प्रो0 शास्त्री को अनेक संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित किया जा चुका है।

आपकी संस्कृत भाषामें व्याख्यान की शैली अद्भुत है श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर श्रवण करते हैं।

डॉ० जयदेव वेदालंकार

भारतीय विद्याभवन बंगलौर द्वारा गुरु गंगेश्वरानिन्द राष्ट्रीय वेदरत्न पुरस्कार से सम्मानित ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान् डॉ. जयदेव वेदालंकार का जन्म 5 दिसम्बर 1941 को झड़ौदा कलाँ (नई दिल्ली) में श्री जुगलसिंह जी के यहाँ हुआ था। पंजाब शिवविद्यालय चंडीगढ़ से 1958 में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद आप उच्च शिक्षा के लिए उपदेशक विद्यालय वैदिक साधना आश्रम यमुनानगर गये, जहाँ से आपने योग शिक्षा एवं सिद्धान्त भूषण की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् 1966 में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से वेदालंकार तथा 1968 में दर्शनशास्त्र में एम. ए. किया। आपने 1978 में मेरठ विश्वविद्यालय से पीएच.डी. और 1985 में रांची विश्वविद्यालय से डी.लिट् की उपाधियाँ प्राप्त की।

1968 में आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्रवक्ता नियुक्त हुए और दिसम्बर 2003 तक इसी विश्वविद्यालय में रीडर, प्राध्यापक, वित्ताधिकारी कुलसचिव एवं अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय आदि पदो पर कार्य करते रहे।

डॉ0 वेदालंकार ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया हैं, जिनमें से अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित हैं तथा शोधार्थियों द्वारा संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में उनका उपयोग किया जाता हैं। आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं, महर्षि दयानन्द की विश्वदर्शन को देन, उपनिषदों का तत्त्व ज्ञान, भारतीय दर्शन की समस्याएं, वैदिक दर्शन, भारतीय दर्शन में प्रमाण, वैदिक दर्शन का इतिहास, भारतीय दर्शन-तत्त्व एवं ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्य, वैदिक ओरिजिन ऑफ स्वामी दयानन्द फिलोसॉफी, वैदिक साहित्य में गोहत्या या गौ रक्षा, महर्षि दयानन्द की साधना और सिद्वान्त, मानवीय मूल्य और समाज में अंत: सम्बन्ध, विश्व की प्रमुख ज्वलन्त समस्याओं का दर्शनिक निदान, गुरुकुल

कांगड़ी विश्वविद्यालय का सौ वर्ष का इतिहास।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आपके अनेक शोध-लेख विभिन्न संस्थानों की शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

आप अपनी विद्वत्ता के कारण अनेक विश्वविद्यालयों की शोध-समितियों, चयन-समितियों के सदस्य नामित किये जाते हैं। समय-समय पर आप संगोष्ठियों, कार्यशालाओं आदि में भी सहभागिता के लिए आमन्त्रित किये जाते हैं तथा आपके द्वारा व्यक्त विचारों को पूरा सम्मान दिया जाता है।

डॉ. वेदालंकार को उनकी विशिष्ट साहित्य-सेवा के लिए देश के अनेक संस्थानों द्वारा समादृत भी किया गया है। यथा-अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की ओर से स्वामी प्रणवानन्द राष्ट्रीय पुरस्कार (1987), श्री मेघ जी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार बम्बई (1998), उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ का विशेष पुरस्कार (1999), स्वामी गंगेश्वरानन्द वेद प्रतिष्ठान नासिक का वेद वेदांग पुरस्कार (2000), अखिल भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली का भारतीय दर्शन तत्त्व एवं ज्ञान मीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय' पर राष्ट्रीय वरिष्ठ पुरस्कार (2004)।

वर्ष 2003 का गुरु गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुरस्कार आपको 23 सितम्बर 2004 को भारतीय विद्याभवन बम्बई के सभागार में आयोजित एक भव्य समारोह में प्रतिष्ठित संत श्री मोरारी बापू के करकमलों द्वारा प्रदान किया गया।

अन्त में, गुरुकुल और 'गुरुकुल पत्रिका' परिवार अपने इन यशस्वी, प्रतिष्ठित स्नातकों का हृदय से अभिनन्दन करते हुए परमपिता परमेश्वर से इनके कर्मशील जीवन एवं चिरायुष्य की कामना करता है।

डॉ0 महावीर अग्रवाल



भारतीय विद्या भवन, मुम्बई की ओर से डॉ० जयदेव वेदालंकार को वेदरत्न पुरस्कार से सम्मानित करते हुए राष्ट्रसन्त पूज्य मोरारी बापू



उत्तर भारतीय कुलपति सम्मेलन गुरुनानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर (अक्टूबर, २००४) के अवसर पर बाघा बॉर्डर (पाकिस्तान) पर बांये से श्री दयानन्द डोगाआनेकर सेक्रेटरी जनरल ए.आईयू, प्रो० स्वतंत्र कुमार कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, डॉ. एस.पी. सिंह कुलपति गु०ना० देव विश्वविद्यालय, प्रो. के.मोहन अध्यक्ष ए.आईयू. एवं अन्य

५ सितम्बर
शिक्षक दिवस पर विशेष............

डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का जन्म 5 सितम्बर 1888 ई0 को मद्रास के तिरूतणी गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री वीरस्वामी उय्या पुरोहिताई करते थे। आगे चलकर राधाकृष्णन् महांन् शिक्षा-शास्त्री और दार्शनिक बने। उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर शिक्षा नहीं पाई अपितु वे भारतीय विश्वविद्यालय के लिए ही गर्व की वस्तु है। वे पश्चिमी जगत् की चकाचौंध से आक्रान्त नहीं हुए। 20 वर्ष की आयु में मद्रास प्रेसीडेंसी कालेज में वे दर्शन (फिलॉसफी) तर्कशास्त्र के सहायक उपाध्याय या असिस्टेंड प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1908 में उपाध्याय हुए। शिक्षक के रूप में युवा राधाकृष्णन् की ख्याति शीघ्र ही कालिज की दीवारों को पार कर फैल गयी। स्वाधीनता संग्राम को भी उन्होंने अपने भाषणों व लेखों से बल दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्यात् 1952 में वे निर्विरोध भारत के उपराष्ट्रपति चुने गए। इस पद का गौरव आपने 12 मई 1962 तक बढ़ाया।12 मई 1962 ई0 को 31 तोपों की सलामी के बीच विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक राजनीतिज्ञ डा0 राधाकृष्णन् ने दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्री गणराज्य भारत के राष्ट्रपति पद की शपथ ली। वे भारत के 2 य राष्ट्रपति बने।

डॉ0 राधाकृष्णन् को गुरुकुल कांगड़ी की शिक्षा-पद्धति से बहुत स्नेह था। वे गुरुकुल में दो बार आए। यहाँ हम उनके 28 चैत्र 2011 के गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त पर दिए भाषण के कुछ अंश उद्धृत कर गौरव अनुभव कर रहे हैं- (सम्पादक)

श्रीयुत कुलपति जी तथा मित्रो!

सब से प्रथम मैं गुरुकुल की ओर से दिए गए स्नेह और सौहार्दपूर्ण अभिनन्दन-पत्र के लिए आप का कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करता हूँ।

तत्वज्ञानी लोग लौकिक कार्यें में भी अपना योग प्रदान करें- यह परम्परा हमारे देश के लिए नवीन नहीं है। इतिहास के अरुणोदय से ही हमारे देश में यह व्यवहार चला आया है। विदेह जनक और श्री कृष्णचन्द्र की जीवनचर्या इस परम्परा के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

यहाँ आकर मैं बड़ा आनन्द अनुभव कर रहा हूँ। इस गुरुकुल की यह मेरी दूसरी यात्रा है। स्वाधीनता प्राप्त होने से पूर्व मैं सन् 1942 में यहाँ पर आ चुका हूँ।

जिन दिनों गुरुकुल की स्थापना हुई थी, उस समय देश में चहुँओर अन्धकार छाया हुआ था। यह गुरुकुल देश के उन गिने चुने शिक्षा प्रतिष्ठानों में से एक था, जिन्होंने शिक्षण-संस्कृति की यज्ञाग्नि को प्रबुद्ध और सतेज रखा था। आज यह ज्योति और अधिक दीप्तिमान् है। हम यह तो नहीं कह सकते कि इस ज्योति ने इस देश के समस्त क्षेत्रों से अन्धकार को दूर भगा दिया है, परन्तु इतना अवश्य हुआ है कि हम जन-समाज के मनों और हृदयों को आलोकित करने का यह शुभ कार्य अपने हाथ में लेने में समर्थ हुए हैं। शिक्षातत्व के वे अनेक सिद्धान्त जो आज अनेक शिक्षणालयों द्वारा स्वीकार किए जा रहे हैं, सब से पहले इस गुरुकुल द्वारा प्रवर्तित किए गए थे।

आपने इसे एक आश्रमिक विश्वविद्यालय बनाया है। आपने छात्रों के संख्यातिरेक को नापसन्द किया है। आप इस देश की पुरातन संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करने में विश्वास रखते हैं। आपने

मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया हुआ है। इन समस्त सिद्धान्तों को आज के शिक्षातत्वज्ञ स्वीकार करना चाहते हैं।

यहूदी धर्मग्रन्थों में एक प्रसिद्ध वचन है--'जेरूसेलम का विनाश हो गया, क्योंकि वहाँ पर शिक्षकों का सम्मान नहीं होता था।' यह कोई नवीन बात नहीं है। प्राचीन समय से हम इस सचाई को बराबर सुनते आ रहे हैं। जब शिक्षकों का सम्मान नहीं होता और गुरुजनों की शिक्षाएँ श्रद्धा-पूर्वक नहीं सुनी जाती, तो समझ लेना चाहिए कि देश का पतन समीप है। यदि गुरुजन अपना सम्मान चाहें तो उन्हें शिष्यों के निकट सम्पर्क में आना चाहिए। उन्हें छात्रों के साथ सौहार्द स्थापित करना चाहिए। गुरुशिष्य का यह सौहार्द और सान्निध्य सार्वजनिक प्रवचन करने मात्र से नहीं हो सकता। सौहार्द और सम्मान की भावना के लिए गुरुशिष्य का निकट सम्पर्क होना ही चाहिए।

यहाँ गुरुकुल में छात्रों का भीड़-भड़क्का नहीं है। यहाँ आप लोग संख्या-वृद्धि के लोभ से अभिभूत नहीं हैं। यहाँ अन्तेवासियों की संख्या मर्यादित है। मुझे ज्ञात हुआ है कि आप के यहाँ 400 अन्तेवासी हैं। आपने उनको आदर्श जीवन जीने की अनुकूलता प्रदान की है। आपके छात्रों को अपनी मात्भूमि के वातावरण को तथा उसकी संस्कृति को हृदयङ्गम करने का पूरा अवसर मिलता है।

प्रश्न उठता है--गुरु और शिष्य के बीच में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए? इस विषय में ऊँचे मनीषी-जनों का विचार है कि शिष्य को अपना विकास स्वयं साधने दीजिये। उसे स्वयं ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने दीजिये। इस विषय में अन्य विचारक, व्यक्ति के मानसिक निर्माण के लिये समष्टिवादी (समग्रवादी-टोटेलिटेरियन) पद्धति को अपनाने का आग्रह रखते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अपने हस्तकौशल से हम एक मृत्ति का पिण्ड को वाँछित रूप प्रदान कर सकते हैं, उसीप्रकार व्यक्ति का निर्माण भी किया जा सकता है। परन्तु हमारे देश की परम्परा इस विषय में उन से भिन्न है। हम व्यक्ति का सम्मान करते हैं। हम व्यक्ति के गौरव को समझते हैं। श्री कृष्णचन्द्र जी गीता में अर्जुन के प्रति अच्छी से अच्छी शिक्षा देने के पश्चात् भी कहते हैं-- यथेच्छसि तथा कुरु--अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करो। वे अपने विचारों को अर्जुन के मन पर थोपने का प्रयत्न नहीं करते। वे कहते हैं--मुझे सत्य की जैसी प्रतीति हुई है, वैसी तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत कर दी। परन्तु मेरा काम यह नहीं कि मैं अपने दृष्टिबिन्दु को तुम पर थोप डालूँ। अपनी अन्तरात्मा की सहायता से सत्य को तुम्हें स्वयं खोज निकालना चाहिए। उस के बाद अपनी ही न्यायबुद्धि से तुमने यह निश्चय करना है कि तुम्हारे लिये ठीक मार्ग कौन सा हो सकता है? हमारे देश ने इसी परम्परा को अक्षुण्ण रखा है कि व्यक्ति का सम्मान करो। किसी भी विषय पर जो कुछ भी श्रेष्ठतम विचार किया गया है, उसे व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत कर दो और उस पर निर्णय करने का सम्पूर्ण अधिकार उसी को सौंप दो। अभिप्राय यह है कि व्यक्तित्व की पवित्रता और प्रतिष्ठा का आदर किया जाता रहा है। गुरु और शिष्य के व्यवहार का अनुशासन करने वाली पद्धति यही होनी चाहिए। गुरुजनों को इस प्रकार कदापि नहीं सोचना चाहिए कि इन समस्त व्यक्तियों के मनों में अपने विचार हथौड़े से कूट कर ठूँस दिए जाए।

शिष्यों के प्रति इस भावना से दृष्टिपात करना चाहिए कि ये आत्मा-रूपी कोमल कलिकाएँ कुसुमों के रूप में विकसित होने के लिये प्रयत्नशील हैं। गुरुजनों का सही मनोभाव इसी प्रकार का होना चाहिए।

रूस, इङ्गलैंड, अमेरिका, यूनान और रोम आदि विभिन्न देशों ने शिक्षा के ध्येय के विषय में विभिन्न विचार स्वीकार किए हैं। हम भारतीयों का शिक्षा के स्वरूप के विषय में एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण रहा है। भारतीय मनीषियों ने बताया है कि शिक्षा मानवात्मा की स्वाधीनता के लिये होनी चाहिए--'सा विद्या या विमुक्तये।'

शिक्षा का प्रयोजन यही होना चाहिए कि वह मनुष्य की आत्मा में इस प्रकार का सामर्थ्य उत्पन्न कर दे कि उसको नया जीवन द्वितीय जन्म द्वितीय लोक (स्वाधीनता और आध्यात्मिकता का लोक) प्राप्त हो जाय।

तद्द्वितीयं जन्म, माता सावित्री, पिता आचार्यः।..........

जब प्रश्न पूछा गया कि अमृत क्या है तो ऋषि द्वारा उत्तर दिया गया-

प्राणानां आरामः। मनसः आनन्दः। शान्ति समृद्धिः।।

अर्थात्-प्राणों (शरीर) के विश्राम, मन के आनन्द और आत्मा की शान्ति-परमशांति-में अमृत समाया हुआ है। मनुष्य तीन तत्वों से बना है- शरीर, मन और आत्मा। मानवीय प्रकृति के इन तीन तत्वों को विकसित और समृद्ध बनाने वाली शिक्षा को ही हम सर्वाङ्गीण शिक्षा कह सकते हैं।

हमें यह नहीं समझना चाहिए कि विद्या के आदान-प्रदान और दाक्षिण्य के हस्तान्तरण का नाम ही शिक्षा है। उनकी बड़ी आवश्यकता है। इस में भी कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य होना चाहिए कि वह अपनी जानकारी और कार्यपटुता से अपना योगक्षेम (आजीविका) चला सके। कहा भी है--'अर्थकरी विद्या'। परन्तु यही सब कुछ नहीं। यदि आप वैज्ञानिक दृष्टि से निपुण हो जाते हैं, यदि आप अपनी आत्मा के अन्य पहलुओं को विकसित नहीं करते, और यदि आप यह नहीं मानते कि विद्या और प्रज्ञा के अतिरिक्त भी कोई उदात्त तत्व आपके जीवन में विद्यमान है तो आप अपने जीवन के स्वामी होने के स्थान पर केवल राक्षस बन जायँगे।

किसी ने ठीक ही कहा हैं--**साक्षरोविपरीतत्वे राक्षसो भवति ध्रुवम्।**

अर्थात्-यदि हम अपने जीवन के आध्यात्मिक पाश्र्व की उपेक्षा करेंगे तो अवश्य ही हम राक्षस (दानव) बन जायेंगे।

अतः यदि हम वर्तमान जगत् की विपदाओं और यन्त्रणाओं से बचना चाहें तो हमें केवल विज्ञान की प्रगति आवश्यक नहीं है, अपितु साहित्य, कला, विद्या-विनोद और प्रज्ञा की प्रगति में उन्नति करनी होगी। जब तक हम मानवीय प्रकृति के इस पहलू को विकसित और समुन्नत नहीं करते, विज्ञान की ये त्रासदायक उपलब्धियाँ मानवता के लिए विनाश-कारिणी सिद्ध होगी, किसी भी प्रकार सहायक नहीं बनेंगी। यह सब कुछ उन व्यक्तियों पर निर्भर है जिन्होंने इन वैज्ञानिक आविष्कारों को अपना वशवर्ती बनाया हुआ है। हम आग से क्या करें, यह अग्नि की प्रकृति के ऊपर निर्भर नहीं है अपितु आग का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के स्वभाव पर आश्रित है। आग से आप अपनी अँगीठी गरम कर सकते हैं, अपना भोजन पका सकते हैं तथा उसे आप अपने पड़ौसी के मकान को जलाने में भी प्रयुक्त

कर सकते हैं। इसी प्रकार अणुबम्ब एक यन्त्र है। वह आजकल मनुष्य के हाथ में पकड़ा दिया गया है। क्या हम उसका उपयोग मानवता, सौन्दर्य और जीवन के प्रकर्ष के लिए कर रहे हैं या विनाश के लिए? मानव-जीवन अणुशक्ति पर आश्रित नहीं है, अपितु उन व्यक्तियों की प्रकृति पर अवलम्बित है जिन्होंने इस शक्ति का पता लगाया है। स्थान की दृष्टि से जगत् सिकुड़ता जा रहा है। ज्यों-ज्यों वह छोटा होता जाता है, त्यों-त्यों हमारे हृदय विशाल होने चाहिएँ।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्।।

धर्म वही है जो मानवता को एकत्र करता है। अधर्म मानवता को विभक्त करता है। धर्म वह है, जो समाज को धारण किए रखता है--एक सूत्र में पिरोए रखता है। अधर्म हमें विशृङ्खल (विकीर्ण) कर देता है। धर्म हमारा अवलम्बन है। अधर्म से हमारा पतन होता है। धर्म के नाम पर हमने अपने देश में इस प्रकार के अनेक आचरण स्वीकार किए हुए हैं जो वस्तुतः अधर्म हैं। सब प्रकार के जाति-पाँति के प्रभेद तथा वे समस्त आचरण जिन के द्वारा हमने अबला नारियों और निम्न श्रेणी के लोगों का दमन और शोषण किया है, हमारे विनाश का कारण सिद्ध हुए हैं।

यज्ञ के नाम पर वृक्ष-वनस्पतियों को काट कर पशुओं की हत्या कर, उन का रक्त बहा कर, यदि हम स्वर्ग जा सकते हैं तो बताइये नरक में किस मार्ग से जाएँ?

वृक्षाँश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिर-कर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गः नरकः केन गम्यते।।

सदा स्मरण रखिए, सच्चे धर्म के महान् समर्थक सदा सुधारक वृत्ति के लोग (प्रोटस्टेन्ट मनोभाव के व्यक्ति) ही रहे हैं। धर्म के क्षेत्र में वे महान् सुधारक निहित स्वार्थों के विरुद्ध सदा आवाज उठाते रहे हैं। महर्षि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे महाप्राण पुरुषों ने हमारे देश की प्रामाणिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व किया है। वे अन्धविश्वासों के विरुद्ध सदा जूझते रहे हैं।

हमारी यह मातृभूमि सदा से महान् रही है। आप को उपदेश करते हुए आप के आचार्य जी ने अभी बताया है कि हमारे ऋषि-मुनियों ने इस पवित्र भूमि को अपने ज्ञान के आलोक से आलोकित किया है। उन्हीं के योगदान से यह देश गौरवशाली बना है। इस देश की संस्कृति की सुदीर्घ परम्पराएँ इस कारण अक्षुण्ण नहीं रही हैं कि हम लोग अशुद्ध रूप में उन को दुहराते रहे हैं। उस का प्रधान कारण यह है कि हम परिवर्तन के लिए सदा सन्नद्ध रहे हैं।अपने आचार-व्यवहारों और क्रिया-कलापों को अपने आधारभूत विचारों के अनुसार परिवर्तित करने के लिए हम सदा तैयार रहते आए हैं। जब-जब सच्चे आदर्शों और विकृत आचारों के बीच विसंवाद (विरोध) आता था, तब-तब वे विचारक अशुद्ध आचरणों को छोड़ कर जाति को पुनः धर्म के सच्चे पथ पर प्रवर्तित करते रहे हैं।

आज मानव निर्माणमूलक कार्यों की उदात्त उपलब्धियों के लिए अभीप्सा कर रहा है। उसके लिए मेरी समझ में ध्यान (एकाग्रता) की, चित्त को केन्द्रित करने की बड़ी आवश्यकता है। इस संसार में जो मनुष्य तुच्छ विषयों के प्रति अपनी शक्तियों का अपव्यय करते रहे हैं, वे जीवन में किसी महान् सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सके हैं।

आज इस विश्वविद्यालय से विदा होने वाले नवयुवकों का यह कर्तव्य है कि वे समस्त जीवन में स्वाध्याय और प्रवचन को अपना व्रत रखें-आप के आचार्य जी ने भी आप को यही उपदेश दिया है- स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

आजकल हमें इस प्रकार के बहुत कम छात्र दिखाई देते हैं जो किसी एक पुस्तक को पूरी तरह आद्योपान्त पढ़ते हों। अपने शिक्षकों से पूछ कर वे नोट्स लिख लेते हैं। परीक्षा के दिनों में उन को उत्तर-पत्रों पर उगल देते हैं और उसके बाद उन पाठों को वे सदा के लिए भुला देते हैं। इतिहासज्ञ गिब्बन नें कहा है-'भारत की समृद्धि मिलने पर भी मैं अध्ययन के आनन्द को नहीं छोड़ सकता।' प्रत्येक विश्वविद्यालय को चाहिए कि वह अपने तरुणों के मन में इस भावना को बद्धमूल करे।

प्रिय नवयुवको! आपने इस शिक्षा-निकेतन में भारतीय-संस्कृति की भावना को हृदयङ्गम किया है। मैं आशा करता हूँ कि आप उसके प्रभाव और तेज पर विश्वास रखेंगे। स्मरण रखिए, सत्य के साथ उस संस्कृति की एक-रूपता है। इसी के द्वारा आप जनता के हृदयों और मनों पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। मैं आप से यह भी कह देना चाहता हूँ कि वह भारतीय-संस्कृति, जिस का सत्य से अभेद है, अपने अन्दर अद्‌भुत शक्ति रखती है।

आप को उस संस्कृति का उत्तराधिकारी बनना चाहिए। उस के लिए आप को अभिमान करना चाहिए। आप इस संस्कृति के महत्व को अपने हृदयों में स्थापित करें और उसकी वृद्धि करें।यदि आप ऐसा करेंगे तो आप केवल अपने देश की ही नहीं अपितु सारे विश्व की कुछ सेवा कर सकेंगे। मैं आशा करता हूँ कि आपने इस विद्या-मन्दिर में जो शिक्षा पाई है, वह आप की आकांक्षाओं को सफल बनाने में सहायक होगी।

(हिन्दी भाषान्तर-शंकरदेव विद्यालंकार)

महाभारते नैतिकमूल्यानि

भारतीय-लौकिक-वाङ्मये रामायणानन्तरं महाभारतस्यैव स्थानं वर्तते। महाभारतं चैतद् भारतीय-वाङ्मयस्य आकर: ग्रन्थ:। महाभारते तत्कालीनानां सर्वेषां सांस्कृतिक-साहित्यिकादि विषयाणां संकलनं वर्तते। अस्मिन् ग्रन्थे एकत: सरसपद्यानां निबन्धनं विद्यते, अन्यतश्चआचारसंहिताया: विशदं वर्णनं प्राप्यते। महाभारते धर्मार्थकाममोक्षात्मकस्य चतुर्वर्गस्य प्रतिपादनं वर्तते।

महाभारते एवं श्रीमद्भगवद्गीताऽपि समन्विता वर्तते। अत: एतस्य महत्त्वं सर्वातिशायि। श्रीमद्भगवद्गीतेयं कोटिशो हिन्दूजनानां न केवलम् आचारसंहिता वर्तते, अपितु वेदसदृशोऽयं धर्मग्रन्थोऽपि वर्तते। महाभारते विभिन्न-संस्कृतीनां समिश्रणं प्राप्यतें, एतस्मिन् राष्ट्रीयभावनाया: उदय:, आसुरीप्रवृत्तीनां दमनप्रयास:, भौगोलिक-अनेकतायाम् एकता, जीवन-दर्शनस्य व्यावहारिक-दृष्ट्यावर्णनं, स्वाधिकारप्राप्त्यै जागरूकता, नारीषु अबलात्व-परित्यागस्य प्रवृत्ति:। राजनीति-कूटनीति-छद्मनीति-दण्डनीत्यादीनाम् अनीत्याश्च व्यावहारिकं प्रदर्शनं, राजधर्मस्य सर्वांगीणं विवेचनं, नीतिशास्त्रस्य समाकलनं, चतुर्वर्गस्य च सर्वासां समस्यानां समाधानम् इह प्राप्यते।

महाभारते एकत: राजधर्मस्य उपदेश:, अपरतश्च मोक्ष-धर्मस्य। क्वचित् अशान्ते: अन्यतश्च शान्ते: चर्चा, एकत:कर्ममार्गस्य वर्णनम् अपरतश्च ज्ञानमार्गस्य। महाभारते रोचकतावर्धनाय एकत: भीष्मपितामह-सदृशानां नैष्ठिक-ब्रह्मचारिणां वर्णनम् अपरतश्च **शिखण्डि-सदृशानां क्लीबानां वर्णनं वर्तते।**[१] यदि अभिमन्यु-सदृशा: कर्मशूरा: सन्ति, तर्हि अपरत: अश्वत्थामा सदृशा: वाक्शूरा: अपि वर्तन्ते। यदि एकत: श्रीकृष्णसदृशा: योगिराजा: नीतिशास्त्र-निपुणा:सन्ति, तर्हिअपरत: दु:शासनसदृशा: दुश्चरित्रा: नीति-विध्वंसकाश्चापि सन्ति। यदि एकत: विदुरसदृशा: ज्ञानिन: पवित्रात्मान: सन्ति, तर्हि अपरत: शकुनिसदृशा: छद्मजीविन: चापि सन्ति। एवं महाभारते विरोधि-तत्वानां समन्वय: दृश्यते। एवम् अस्मिन् महाकाव्ये विविधरूपतायाम् एकरूपता, अनेकतायाम् एकता, विशृंखलतायां समन्वय:, व्यवहारेऽपि आदर्श-स्थापना अशान्तौ च शान्ते: सन्देश:, श्रेयोमार्गस्य प्रेयोमार्गस्य च उभयो: समाहार: दृश्यते।

महाभारते नैतिकमूल्यानां वर्णनं विशेषत: श्रीकृष्णेन, भीष्मपितामहेन विदुरेण च विधीयते। नैतिक-मूल्य-दृष्ट्या महामहाभारतस्य सर्वातिशायित्वं वर्तते। आचार: परमो धर्म: इति अधिकृत्य आचारपालनं प्रथमों धर्म: इति विवेचयता महर्षिणा व्यासेन उच्यते--

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्तत: क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हत:।। महा0 उद्योग0 36.30

लोके कथं व्यवहरेत् इति विषये व्यासेन उच्यते यद् यथायोग्यं मानवेन वर्तितव्यम्। अतएव महाभारते उच्यते--

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्म: ।
मायाचारो मायया वर्तितव्य: साध्वाचार: साधुना प्रत्युपेय:।।

महा0 उद्योग0 3.77

शत्रुषु कथं व्यवहर्तव्यम् इति विवेचयता व्यासेन उच्यते यत् शत्रो: कदापि उपेक्षा न कर्तव्या। यतोहि शत्रु: सदैव दु:खकरो भवति। उक्तं च-

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि दहत्यग्नि-र्विषमल्पं हिनस्ति च ।। महा0 शान्ति0 57.17

लोकव्यवहारार्थं धनस्य परमावश्यकता। निर्धनता सदा दुःखकरी। धनस्य उपयोगितां विवेचयता व्यासेन उच्यते यत्-

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।

जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः॥ महा0 उद्योग0 7१.३१

धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते।

नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम॥ महा0 शान्ति0 8.22

महाभारते नैतिक-मूल्य-दृष्ट्या प्रतिपाद्यते यद् यथा राजा तथा प्रजा। यदि राजा धर्मम् आचरति तर्हि जनाः अपि भ्रष्टाचारे न मज्जन्ति। यदि राजा अधिकारिणश्च अधर्मे प्रवर्तन्ते तदा प्रजाऽपि धर्मभ्रष्टा भवति। उच्यते च शान्तिपर्वणि--

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते।

यद् यदाचरते राजा तत् प्रजानां स्म रोचते ॥ महा0 शान्ति0 75.4

राज्ञः प्रजायाश्च सम्बन्धं वर्णयता व्यासेन उच्यते यत् राजा प्रजाश्च अन्योन्यसम्बद्धाः सन्ति। उच्यते च ---

राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।

राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ॥

महा0 शान्ति0 67.51

सत्यस्य महत्त्वं वर्णयता महात्मना व्यासेन उच्यते यत् सत्यं स्वर्गस्य सोपानं वर्तते। यथा समुद्रोतरणाय नौका इव।

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे।

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव॥ महा0 उद्योग0 33.47

महाभारते नैतिकमूल्यदृष्ट्या साधु उच्यते यत् एकः स्वादु वस्तु स्वयं न भक्षयेत्, अपितु स्वादिष्टं वस्तु विभज्यैव भक्षयेत्।

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत्।

एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्॥ महा0उद्योग0 33.46

क्षमागुणस्य महत्त्वं वर्णयता व्यासेन उच्यते यत् क्षमा लोकस्य वशीकरणशक्तिः। क्षमया सर्वं साध्यते।

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।

शान्तिखड्ग करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥

महा0 उद्योग0 33.50

क्षमायाः विद्यायाः अहिंसायाश्च महत्त्वं वर्णयता व्यासेन उच्यते यत् क्षमा परमः धर्मः, विद्या सर्वार्थ-साधिका, अहिंसा च सदा सुखदा। उक्तं च-

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।

विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा॥ महा0 उद्योग0 33.52

महाभारते नैतिकमूल्यदृष्ट्या बहुशोभनम् उच्यते यत् अदाता धनवान्, अतपस्वी च दरिद्रः न

लोके जीवितुम् अर्हति। उक्तं च-

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।

धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥ महा0 उद्योग0 33.60

महाभारते कामः क्रोधः तथा लोभत्रयं एतत् नरकस्य द्वारं पुरुषस्य च नाशकं वर्ण्यते। उक्तं च-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

महा0 उद्योग0 33.66

महाभारते वर्ण्यते यत् शरणागतं कदाचिदपि न त्यजेत्॥ उक्तं च-

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।

त्रीनेतान् शरणं प्राप्तान् विषमेंऽपि न संत्यजेत्॥ महा0 उद्योग0 33/68

महाभारते वर्ण्यते यत् एते षड्गुणाः कदापि न परित्याज्याः-सत्यं, दानम्, अनालस्यम्, परदोषस्य अदर्शनं, क्षमा, धैर्यं च। उक्तं च---

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याःकदाचन।

सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः॥ महा0 उद्योग0 33.89

व्यासेन उच्यते यत् स्वकल्याणम् इच्छता मनुष्येण एते षड् दोषाः सदा त्याज्याः-निद्रा, तन्द्रा, भयं, क्रोधः, आलस्यं, दीर्घसूत्रता च। उक्तं च---

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥ महा0 उघोग0 33.78

महाभारते उच्यते यत् अस्मिन् संसारे षड् सुखकराः गुणाः सन्ति। ते सन्ति सदा अर्थस्य प्राप्तिः, नीरोगता, सुखदा भार्या, प्रियवादिनी च भार्या, आज्ञाकारी पुत्रः अर्थकरी विद्या च। उक्तं च--

अर्थागमो नित्यमरोगिता च

प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।

वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या

षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥ महा0 उद्योग0 33.82

महाभारते महत्त्वपूर्णं वर्णनं प्राप्यते यत् एते अष्टगुणाः पुरुषस्य ख्यातिं वर्धयन्ति-बुद्धिः, कुलीनता, इन्द्रिय-निग्रहः, विद्वता, पराक्रमः, मितभाषिता, यथाशक्ति दानं, कृतज्ञता च। उक्तं च-

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति

प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।

पराक्रमश्चावहुभाषिता च

दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च॥ महा0 उद्योग0 33.99

महाभारते वर्ण्यते यत् एतादृशाः षट्प्रकारकाः जनाः सदैव दुःखिताः भवन्ति। ते सन्ति- यः नित्यम् ईर्ष्यां करोति, यः सदा घृणां करोति, यः सदा असन्तुष्टः, यः सदा शंकाकुलः, यः च सदा पराश्रयः वर्तते। उक्तं च--

ईर्ष्या घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।

परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः॥ महा0 उद्योग0 33.90

महाभारते उच्यते यत् यत्र एते गुणाः सन्ति तत्र कदापि अनर्थाः आपदाश्च न भवन्ति- यः आश्रितान् विभज्य भोजनं भक्षयति, यः अल्पं स्वपिति, अत्यधिकं च श्रमं करोति, यः अमित्राणां अपि विपत्तौ सहायतां करोति। उक्तं च--

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सन्
तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः॥ महा0 उद्योग0 33.118

महाभारते उच्यते यत् एतैः गुणैर्युक्ताः जनाः सदा सुखं ख्यातिं च प्राप्नुवन्ति। ते गुणाः सन्ति-सर्वजनानां हित-सम्पादनं, सत्यसंभाषणं, स्वभावे मधुरता, परेषां समादरः, विचार-शुद्धिश्च। उक्तं च--

यःसर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृत् शुद्धभावः।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः। महा0 उद्योग0 33.120

एवं कथयितुं शक्यते यद् महाभारतं नैतिकमूल्यानां वर्णने आकर-ग्रन्थ रूपेण वर्तते।

डा० भारतेन्दु द्विवेदी
प्रवक्ता संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर उ०प्र०

ऋग्वेद में ऋत की अवधारणा

प्रारम्भ में वैदिक आर्यों की प्रतिबद्धता अनेक देवों के प्रति थी। वे प्रकृति के नाना रूपों में विभिन्न देवों का प्रतिबिम्ब देखते थे। कालान्तर में बौद्धिक विकास के साथ धीरे-धीरे परमजिज्ञासु आर्योंका चिन्तन एक परमसत्ता तक पहुँचा। समालोचकों ने आर्यों की बौद्धिक यात्रा 'बहुदेववाद से एक देववाद तक' को चिन्तन की परिपक्वता का द्योतक माना है। बेदों में उस परमसत्ता 'देवाधिदेव' को अनेक स्थलों पर सांकेतिक रूप से वर्णित किया गया है। आर्यों का यही विकसित चिन्तन उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य एवं अद्वैत वेदान्त का मुख्य उपजीव्य है। ऋग्वेद में ऋत-सम्बन्धी विचार को इसी प्रकार के विषयों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

आर्ष द्रष्टा ऋषियों की मान्यता थी कि स्वयमेव जीवन प्रदान करती वायु नहीं बहती है और न धरती को आर्द्र करती हुई नदियाँ प्रवाहित होती हैं। सूर्य-चन्द्र, दिन-रात आदि जो अपना कार्य नियत समय में एक निर्धारित व्यवस्था के अन्तर्गत सतत करते आ रहे हैं, उसके मूल में एक अदृश्य शक्ति है, जो उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित करती है। वह एक नैतिक एवं सार्वभौम व्यवस्था है, एक नियम है, जो सृष्टि के सभी पदार्थों में व्याप्त है। अणु से अणुतर पदार्थ भी उसकी व्यवस्था से परे नहीं हैं। उसी तत्व के कारण विषमता के स्थान पर क्षमता, अशान्ति के स्थान पर शान्ति का साम्राज्य विद्यमान है। उसी तत्त्व के द्वारा विश्व का नियमन होता है, वही विश्व कीशृंखला एवं धर्म का मूल तथा अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहने वाला तत्त्व है। वैदिक ऋचाओं में वह तत्त्व ऋत के नाम से अभिहित है। ऋत अखिल ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होने वाला सर्वप्रथम तत्त्व है, उसके अनन्तर ही दिन-रात्रि एवं जल से परिपूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई है। एक ऋग्वैदिक मन्त्र में कहा गया है-

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ (ऋ० 10/190/1)

वैदिक ऋचाओं में ऋत के आकार की अपेक्षा उसके सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों को विशेष रूप से प्रकाशित किया गया है।

सामान्य रूप से ऋत को सत्य का पर्याय माना जाता है। अमरकोश (1/6/21) में कहा गया है-'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्'। कठिन वैदिक शब्दों के व्याख्यान ग्रन्थ निरुक्त (4/1/45) में ऋत का निर्वचन करते हुए लिखा गया है कि ऋत, सत्य अथवा यज्ञ है-'ऋतं सत्यं वा यज्ञं वा'। आचार्य सायण ने भी एक ऋग्वैदिक मन्त्र (4/23/8) के भाष्य में ऋत शब्द का यही अर्थ किया है-

-'ऋतशब्दे नेन्द्रोवादित्योवासत्यं वा यज्ञो वोच्यते' अर्थात् ऋत शब्द इन्द्र, आदित्य एवं सत्य अथवा यज्ञ का बोधक है। यहाँ मुख्यतः इन्द्र का सम्बन्ध सत्य से तथा आदित्य का यज्ञ से है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र जीवात्मा, प्राण और मन का प्रतीक माना जाता है, जो स्थूल शरीरान्तर्गत एकमात्र सत्य है। आदित्य यज्ञ अर्थात् सत्कर्म का प्रतीक है। सूर्य की उदयावस्था ही मनुष्य को यज्ञादि सत्कर्मों में प्रवृत्त करती है। निरुक्त (12/2) में यास्क ने सूर्य शब्द का निर्वचन-'सुवतेर्वा' किया है, जिसका अर्थ है-जो सम्पूर्ण विश्व को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त करता है, वह सूर्य है। भगवद्गीता में सूर्य को कर्मवाद का महान् प्रवर्तक बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं सर्वप्रथम सूर्य के प्रति ही कर्मयोग का उपदेश दिया था-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवश्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ जीता 4/1

निरुक्त (2/7) में एक स्थल पर ऋत को जल भी कहा गया है- 'ऋतमित्युदकनाम' क्योंकि ऋत (सत्य) की भाँति ही जल भी 'प्रत्यृतम् भवति' सर्वत्र व्याप्त है। वृहद्देवता (2/42,43) के अनुसार ऋत ही अपनी मायावी शक्ति से गर्जन के साथ बरसने वाली आन्तरिक आर्द्रता के साथ आकाश में स्थित है। वही जल-वर्षा कराने वाला इन्द्र है, जो मन की आँखों से दृष्टिगत होता है। पौराणिक युग में तो इन्द्र जल के एकमात्र अधिष्ठातृ देव के रूप में स्तुत हुआ है। इस प्रकार देव रूप में इन्द्र सत्य के समान ही जल (ऋत) से भी सम्बन्धित है।

वैदिक मन्त्रों में जल के विशाल स्रोतों को ऋत के अधीन माना गया है। स्तोता सदैव जल की कामना से ऋत की स्तुति करते हैं, क्योंकि ऋत का सामर्थ्य उन्हें शीघ्र जल प्रदान करता है।[1] नदियाँ स्वयं ऋत की वाहिका हैं-

-'ऋतमर्पन्ति सिन्धवः'।[2] नदियों का 'ऋतावरी' (अत्यधिक जलवाली) विशेषण इसी तथ्य को प्रकाशित करता हैं। ऋत द्वारा प्रदत्त जल से ही अनेक धाराओं वाला, काम-वर्षक, जलवर्द्धक, राजा, दिव्य स्तुत्य, अमरत्व को प्रदान करने वाला सोम सम्बर्द्धित होता है-

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं वृहत्॥ ऋ. 9/108/8

ब्राह्मणग्रन्थों में ऋत एवं जल के सन्दर्भ में पृथक् व्याख्या भी प्राप्त होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/8/3/6) में कहा गया है कि सत्य या ऋत आपः द्वारा प्रादुर्भूत है तदनन्तर इसी सत्य (ऋत) से ब्रह्मा (प्रजापति) की उत्पत्ति हुई है। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकधा जल को ऋत जल से ही उत्पन्न बताया गया है। इसी प्रकार अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकधा जल को ऋत का उद्गम स्थल बताया गया है।

ऋग्वैदिक मन्त्रों में वरुणदेव ऋत के महान् संरक्षक के रूप में स्तुत्य हुआ है। वैदिक ऋचाओं में वरुण का 'ऋतगोपा' विशेषण बहुशः उल्लिखित है। वरुण की प्राकृतिक पृष्ठभूमि विस्तृत सर्वापरक आकाश है और वैदिक ऋचाओं में आकाश को उत्तर समुद्र के रूप में स्मृत किया गया है। अतः वरुण ऋत (जल) का देवता है। वरुण 'रवामृतस्य' (ऋत का स्रोत) कहा गया है[1]। वेद के समतुल्य पारसी धर्म ग्रन्थ अवेस्ता में भी अहुरमज्दा (वैदिक वरुण) को ही ऋत का उद्गम स्थल 'अशाहे खाओ' कहा गया है।[2]

तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/8/5/6) में कहा गया है कि वरुण ही ऋत का संचालक है एवं वही ऋत के साम्राज्य को व्यवस्थित करता है-

'ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे'

ऋत की स्थापना में वरुण के अतिरिक्त अन्य देव भी सहायक बनते हैं। ऋग्वेद में देवों के लिए ऐसे विशेषणों के प्रयोग हुए हैं, जो इसी तथ्य को व्यञ्जित करते हैं, जैसे-शुभस्पतिः (अच्छे कर्मों के रक्षक) धियस्पतिः (सत्कर्मों के रक्षक) विचर्षणिः और विश्वचर्षणिः (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा) विश्वस्थ कर्मणोधर्त्ता (सभी कर्मों के आधार) आदि। एक मन्त्र में कहा गया है कि सूर्य अपनी ओजस्वी रश्मियों के माध्यम से ऋत का सृष्टि में विस्तार करता है, परन्तु ऋत का साम्राज्य वहाँ तक फैला हुआ है, जहाँ तक सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती हैं-

'ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वा सूर्यस्य यत्र निमुचन्त्यश्वान्' (ऋ0 5/62)

ऋग्वेद में एक स्थल पर ऋत को सूर्य का जनक कहा गया है, जिसके कारण सूर्य निश्चित

समय एवं स्थान पर आकाश में चमकता है।[3] विस्तीर्णा एवं दूरवगाह्या सम्पूर्ण द्यावा-पृथिवी ऋत के लिए ही दुग्ध दोहन करती है-

ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते॥ (ऋ0 4/23/10)

अथर्ववेद (12/1) में कहा गया है कि ऋत ही इस विशाल धरा का धारक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि का भी सम्पादन जिस प्रकार यज्ञों द्वारा वर्णित है, ठीक उसी प्रकार ऋत के द्वारा भी सम्पन्न होता है। पितरों ने ऋत के बल पर ही सूर्य को स्वर्ग लोक में जगत् को आलोकित करने के लिए स्तम्भित किया था। सम्वत्सर के बारह मास ऋत के बारह अरों वाले चक्र माने गये हैं।

यज्ञ से ऋत का सम्बन्ध घनिष्ठ है। इस सन्दर्भ में ब्राह्मण ग्रन्थ ऋचाओं से पृथक् विषय का भी प्रतिपादन करते हैं। शतपथ ब्राह्मण (13/4/1/6) में यज्ञ को ऋत का उत्स बताया गया है-'यज्ञो वै ऋतस्य योनिः। यज्ञ में दी गयी आहुतियों को देवों तक पहुँचाने तथा देवों को आहुतियों तक आहूत करने का कार्य ऋत सम्पन्न करता है। ऋत यज्ञ की वृद्धि कराता है। तथा उसे व्याप्त करता है। यजमान द्वारा देवों के प्रति किये गए समस्त यागादि अनुष्ठान ऋत द्वारा ही विनियमित होते हैं। यहाँ यज्ञ का अर्थ कर्मकाण्डीय अनुष्ठान मात्र नहीं है, अपितु बृहद् अर्थ में समस्त सत्कर्म हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रसिद्ध उक्ति है- 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'। सत्कर्म ही सृष्टि की व्यवस्था के मूल, परस्पर सौमनस्य एवं सौहार्द के कारण हैं। ऋत शब्द का शाब्दिक अर्थ-ऋ + गतौ (सत्कर्म के प्रति गमन) भी इसी मत की पुष्टि करता है। यह वैदिक विचार ही आगे चलकर कर्मवाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। कर्मवाद के अनुसार कर्मों के धर्म तथा अधर्म सर्वथा सुरक्षित रहते हैं। कर्मवाद कृत- प्रणाश तथा अकृताभ्युपगम के पक्ष में नहीं है। अर्थात् किये गए कर्म का फल नष्ट नहीं होता है। बिना किये गए कर्म का फल नहीं मिलता। हमारे कर्मफल का नाश भी नहीं होता और हमारे जीवन की घटनाएँ हमारे अतीत कर्मों के अनुसार ही होती हैं। इसी विचार से प्रभावित मनुष्य सत्कर्मों में प्रवृत्त होता हैं। मानव कृत सत्कर्म ऋत की व्यवस्था के पोषक होते हैं। यदि ऋत की व्यवस्था बाधित नहीं होती है तो सृष्टि का क्रम सुचारु रूप से चलता रहता है। प्राय: समस्त भारतीय दर्शन ऋत की नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करते है। न्याय- वैशेषिक के अनुसार यह 'अदृष्ट ' है। इसका प्रभाव परमाणु तक पर होता है। वस्तुओं का उत्पादन एवं घटनाओं का उपक्रम इसी के अनुसार है। मीमांसक इसे अपूर्व कहते हैं। मीमांसकों के अनुसार वर्तमान जीवन के कर्मों का उपभोग परवर्ती जीवन में 'अपूर्व' के द्वारा ही किया जा सकता है। जैन एवं बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों में भी इस प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं।

वैदिक ऋचाओं में ऋत का सत्य रूप सर्वाधिक प्रकाशित हुआ है। देवता सत्य (ऋत) स्वरूप माने गये हैं। सत्य देवताओं का गुण माना जाता है। देवों में जो प्रकाश, शक्ति, परोपकारिता, बुद्धिमत्ता, अनन्तता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अमरत्व, सर्वव्यापकता, पवित्रता, दया आदि सद्गुण हैं, वे ऋत के ही प्रभाव से हैं। परस्पर भिन्न होते हुए भी देवों के तादात्म्य के मूल में ऋत ही है। ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त (3/55) में ही देवों की महिमा को एक माना गया है-'महद्देवानां असुरत्वमेकम्'। वैदिक भाष्यों में देवों के तीन रूपों की चर्चा मिलती है- पहला स्थूल रूप (आधिभौतिक रूप) जो नेत्र के सम्मुख दिखता है। दूसरा गूढ़रूप (आधिदैविक रूप) जो भौतिक इन्द्रियों से अग्राह्य एवं अतीत है। तीसरा आध्यात्मिक रूप जो अध्यात्म से जाना जा सकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में सूर्य के इन्हीं

तीन रूपों को क्रमशः उत्, उत्तर एवं उत्तम नाम दिया गया है-

उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ (ऋ. 1/50/10)

अर्थात् सूर्य की उस ज्योति का नाम उत् है, जो इस भुवन के अन्धकार को दूर करती है, वह सूर्य का आधिभौतिक रूप हैं। इस ज्योति मण्डल का अभिमानी देव जो देवों के मध्य निवास करता है, वह उत्तर है। उन दोनों से बढ़कर विशिष्ट ज्योति की संज्ञा 'उत्तम' है। उत्तम रूप सूर्य का आध्यात्मिक रूप है, जो सत्य, सर्वव्यापी एवं नित्य है। ऋत का दार्शनिक पक्ष भी इसी उत्तम रूप का समर्थन करता है। इसी प्रकार ऋत ही जीवों के अन्तस् में आत्मरूप से अवस्थित है। भौतिक शरीर तो अनित्य है, शरीरान्तर्गत आत्मतत्त्व ही एकमात्र सत्य है। आत्मा की प्रेरणा से ही जीव अपने शुभाशुभ कर्मों का सम्पादन करता है। ऋत के माध्यम से ही जीव परमात्मा से सम्बद्ध रहता है। यह परमात्मा का पूर्वस्थापित सामञ्जस्य है। जीव का जितना ही ऋत का ज्ञान प्रौढ़ होता है, उतना ही विज्ञान का आविष्कार होता है। एवं उतना ही जीव अपने हितकारी कर्मों से प्रकृति की व्यवस्था को सुदृढ़ करता है। ऋत की सत्ता न केवल चेतन जीवों में अपितु जड़-वनस्पतियों में भी है। एक ऋग्वैदिक मन्त्र (3/55/5) में कहा गया है कि जीर्ण औषधियों, नव्य वनस्पतियों एवं सद्योजात पल्लवित औषधियों के अभ्यन्तर में गुणानुरूप से अग्नि या सूर्य रूप सत् विद्यमान है। इन्हीं के प्रभाव से औषधियाँ बिना किसी पुरुष के संयोग से फल-पुष्पादि को उत्पन्न करती हैं। ये अग्नि या सूर्य ऋत के रुप हैं। एक ही अग्नि के अनेक स्फुलिङ्गों की भाँति ही सभी देव उसी तत्त्व से सम्बद्ध हैं। निरुक्त (7/1) में कहा गया है-'एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति'।

ब्राह्मणग्रन्थों में ऋत एवं सत्य के भेद की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि नैतिक स्तर पर ऋत सत्य का ही रूप होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/7/7/4)में कहा गया है कि सत्य मानसिक धरातल पर ऋत है, जबकि उसका प्रत्यक्ष स्फुटित भौतिक रूप सत्य है। ऋग्वेद (4/23/8) के समान ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋत एवं सत्य को क्रमशः अग्नि एवं आदित्य भी कहा गया है। दिन में अग्नि ऋत है एवं आदित्य सत्य/रात्रि के समय इसके विपरीत अग्नि सत्य तथा आदित्य ऋत है। सत्य ठोस या परिदृश्यमान् विधि रूप होता है जबकि ऋत परोक्ष अदृश्यमान् ये दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं। ऋत सत्य पर क्रिया के लिए निर्भर करता है। सत्य की संरक्षा ऋत के द्वारा होती है, जबकि ऋत की गतिमत्ता सत्य के बल पर निर्भर है।

इस प्रकार ऋत (सत्य, यज्ञ या जल) अनन्त परिणाम का द्योतक है जो अशेष रूप से सम्पूर्ण सृष्टि को व्याप्त करता है। जड़चेतन सभी में न्यूनाधिक रूप से ऋत ही उस सत्ता के रूप में अवस्थित है, जो स्वधर्म के लिए प्रेरित करती है। सृष्टि के सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दनों के मूल में अद्वितीय ऋत उपास्थित है।

डॉ० हेरम्ब पाण्डेय
एन १/३०, ए-९ नगवा
वाराणसी-५

'कूपादन्धं वारयति' वाक्य का अर्थ-विमर्श

पाणिनि के 'वारणार्थानामीप्सितः'[1] सूत्र के अनुसार वारणार्थक धातुओं के प्रयोग-स्थलों में ईप्सित कारक ही 'अपादान' सञ्ज्ञा होती है[2] तथा उसमें पञ्चमी[3] विभक्ति का प्रयोग होता है। णिजन्त वृञ्[4] से उपस्थाप्य 'वारण' का अभिप्राय है-'प्रवृत्तिविघात'[5] अर्थात् भक्षण, संयोग आदि के जनक व्यापार के अभाव का जनक (विमुखीकरण-रूप) व्यापार[6]। तात्पर्य यह है कि 'यवेभ्यो गां वारयति' (= यवों से गाय को रोकता है अर्थात् यवों के भक्षण में रत अथवा भक्षण के लिये जाती हुई गाय को रोकता है) आदि स्थल में गौ आदि व्यापार में प्रवृत्त होने से विमुख करना ही 'वारण' कहलाता है। उक्त प्रयोग-स्थल में यदि 'यव' वारणकर्ता के ईप्सित हैं[7]। यदि 'यव' परकीय हैं तथा 'गौ' स्वकीया है तो उस स्थिति में भी 'यव' वारणकर्ता के इप्सित होते हैं, क्योंकि परकीय यवों के नाश से अधर्म हो सकता है अथवा यवों का स्वामी गौ को अपने घर ले जाकर बाँधकर रख सकता है तथा गौ के स्वामी को दण्डित कर सकता है। अतः उक्त कारणों से रक्षा के लिये इष्ट होने से 'यव' ईप्सित होते हैं[8]। इस प्रकार उक्त दोनों ही स्थितियों में वारणकर्ता को ईप्सित होने के कारण यवों की 'अपादान' सञ्ज्ञा हो जाती है।

परन्तु अपादानसञ्ज्ञाविधायक प्रकृत सूत्र में पठित 'ईप्सित' शब्द का रूढ अर्थ 'अभिप्रेत' स्वीकार करने वाला कोई पूर्वपक्षी कह सकता है कि यदि ईप्सित कारक की 'अपादान' सञ्ज्ञा स्वीकार की जाएगी तो 'कूपादन्धं वारयति' (= कुँए से अन्धे को रोकता है अर्थात् जब कोई मनुष्य किसी अन्धे पुरुष को कुँए की ओर जाने से रोकता है) स्थल में 'कूप' की 'अपादान' सञ्ज्ञा नहीं हो सकेगी, क्योंकि इस वाक्य में वारणकर्ता को 'कूप' ईप्सित नहीं होता। उसका ईप्सित तो 'अन्ध पुरुष' होता है[9], क्योंकि वह अनुकम्पावशात् उसे ही कूप में गिरने से बचाना चाहता है। उक्त स्थल में वारणकर्ता को कूप के विनाश का भय नहीं होता और न ही उसे कूप-विनाश के कारण राजा से मिलने वाले किसी दण्ड का भय होता है[10]।

उक्त आशङ्का के समाधान में महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि उक्त स्थल में वारणकर्ता को 'कूप' ही ईप्सित है, क्योंकि वह (वारणकर्ता) विचार करता है कि अन्धा पुरुष कूप को प्राप्त न हो अर्थात् कूप की ओर न जाए[11]। अथवा कूप की ओर जाने से रोके जाने वाले अन्धे पुरुष को अपनी 'गमन' आदि क्रिया से जन्य 'संयोग'-रूप फल से सम्बद्ध करने के लिए 'कूप' ईप्सित होता है, अतः उसकी ('कूप' की) 'अपादान' सञ्ज्ञा हो जाती है[12]। अन्धा पुरुष बिना देखते हुए जिस प्रकार अन्य स्थानों में जाना चाहता है उसी प्रकार वह कूप की ओर भी जाना चाहता है[13], अतः अन्य स्थानों के समान 'कूप' में भी उसकी ईप्सा (= क्रियाजन्य 'फल' से सम्बद्ध करने की इच्छा) होती है। अन्धे पुरुष की ईप्सा का अनुमान उसकी गमन आदि क्रिया में प्रवृत्ति से होता है[14]। कैयट-कृत 'प्रदीप' तथा नागेश-कृत 'उद्द्योत' के अवलोकन से स्पष्ट है कि भाष्यकार ने उक्त समाधान 'ईप्सित' शब्द को क्रियाशब्द मानकर प्रस्तुत किया है, 'अभिप्रेत' अर्थ में रूढ़ मानकर नहीं[15]। 'ईप्सित' शब्द सम्बन्धार्थक आप्लृ[16] से इच्छार्थक 'सन्'[17] तथा कर्मार्थक वर्तमानकालिक 'क्त'[18] प्रत्यय के योग से निष्पन्न है, अतः इसका अर्थ है-कर्ता को अपनी 'क्रिया' से उत्पन्न होने वाले 'फल' के साथ सम्बद्ध करने के लिये इष्ट। इस प्रकार अपादानसञ्ज्ञाविधायक सूत्र 'वारणार्थानामीप्सितः' में वारणार्थक धातु के वाच्यार्थ 'फल' (संयोगजनक व्यापाराभाव आदि) के आश्रय को ही 'ईप्सित' कहा गया है[19]।

नागेशभट्ट के अनुसार 'कूपादन्धं वारयति' स्थल में णिजन्त वृञ् का अर्थ है- 'संयोगजनकव्यापाराभाव-रूप फल का जनक व्यापार'। यहाँ अन्धे पुरुष में होने वाला 'संयोगजनक व्यापार' अभाव का प्रतियोगी (Counter-positive) है। अभिप्राय यह है कि वारणकर्ता द्वारा रोके जाने पर अन्धे पुरुष में कूप के साथ होने वाले 'संयोग' के जनक 'गमन' व्यापार का अभाव अर्थात् ध्वंसाभाव होता है। किसी वस्तु के नाश से उत्पन्न होने वाला अभाव 'ध्वंसाभाव' कहलाता है[20]। जिस प्रकार मुद्गार के प्रहार आदि से घट का नाश होने से घट का जो अभाव उत्पन्न होता है। उसे 'घट का ध्वंसाभाव' कहते हैं[21] उसी प्रकार उक्त प्रयोग-स्थल में अन्धे पुरुष में 'संयोगजनक व्यापार का अभाव', वारणाकर्ता की 'वारण' क्रिया से उत्पन्न होने के कारण, 'ध्वंसाभाव' होता है। उक्त प्रयोग-स्थल में वारणकर्ता के 'वारण' व्यापार से जो संयोगजनक व्यापार का अभाव-रूप फल उत्पन्न होता है उसका आश्रय 'कूप' है, अत: वारणार्थक धातु के फल-रूप अर्थ का आश्रय होने से वह (कूप) ईप्सित होता है जिसके परिणाम स्परूप उसकी प्रकृतसूत्रानुसार अपादान' सञ्ज्ञा होती है[22]। इस प्रकार 'कूपात्' पद में अपादानपञ्चमी का प्रयोग उत्पन्न हो जाता है।

प्रकृत वाक्य के अर्थ पर वैयाकरणों के अतिरिक्त नैयायिकों और मीमांसकों ने भी विचार किया है। किसी अज्ञात नव्य नैयायिक का कथन है कि 'वारयति' पद के घटक वृञ्+णिच्[23] का अर्थ 'प्रतिबन्धजनक व्यापार' (अर्थात् 'कूपे मा पत'-इस प्रकार का शब्दप्रयोग-रूप व्यापार) है। 'तिप्' प्रत्यय का अर्थ 'कृति' (= यत्न) है जो उक्त 'प्रतिबन्धजनक व्यापार' का जनक होता है। 'प्रतिबन्ध' धात्वर्थतावच्छेदक फल[24] है जिसमें 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया के 'अम्' प्रत्यय का अर्थ 'वृत्तित्व' (= आधेयत्व[25]) अन्वित होता है। 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति के प्रत्यय (ङसि[26]>आत्[27]) का अर्थ 'पतन' है[28]। उक्त वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होता है- 'अन्ध-वृत्तिकूपपतनप्रतिबन्धानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान्'[29] अर्थात् 'अन्धे पुरुष में रहने वाला(अन्धवृत्ति) जो कूपपतन-प्रतिबन्ध, उस कूपपतन-प्रतिबन्ध का जनक जो ('कूपे मा पत'-इस प्रकार का शब्द प्रयोग-रूप) व्यापार, उस व्यापार के जनक 'यत्न' का आश्रय (वारणकर्ता)'।

उक्त मत को नव्यन्याय के ही विद्वान् भवानन्द सिद्धान्तवागीश ने दोषयुक्त माना है। उनका कथन है कि (ऊँची दीवार से घिरे हुए अथवा लोहे की जाली आदि से ढके हुए। जिस कूप में किसी भी व्यक्ति का 'पतन' असम्भव अथवा प्रसिद्ध हो, उस कूप में अन्धें पुरुष का भी 'पतन' सम्भव नहीं होगा[30]। ऐसी स्थिति में 'अन्धवृत्ति कूपपतनप्रतिबन्ध' कथन निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि उक्त प्रकार के कूप में 'पतन-क्रिया का प्रतिबन्ध' अन्धे पुरुष में नहीं रह सकता। अन्धे पुरुष में कूपपतन का प्रतिबन्ध तभी रह सकता है जबकि उसका कूप में पतन सम्भव हो। अत: प्रकृत स्थल में पञ्चमी का अर्थ जो 'पतन' स्वीकार किया गया है, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उक्त दोष के परिहार के लिये किसी अन्य अज्ञात नव्य नैयायिक ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी का अर्थ 'वृत्तित्व' है जो कि धात्वर्थतावच्छेदक फल 'अभाव' में अन्वित होता है। 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया का अर्थ 'पतन' है। इन अर्थों की दृष्टि से उक्त वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होता है- 'कूपवृत्त्यन्धपतनाभावानुकूलव्यापारविषयकयत्नवान्' अर्थात् 'कूप में रहने वाला जो अन्धपतनाभाव(= अन्धे पुरुष के पतन का अभाव), उस अन्ध पतनाभाव का जनक जो व्यापार, तादृश व्यापार जिस यत्न का विषय है, उस यत्न का आश्रय (वारणकर्ता)' ।

उक्त समाधान के अनुसार अन्धे पुरुष के भी 'पतन का अभाव' उस कूप में रह सकता है जिस कूप में किसी भी व्यक्ति का पतन अप्रसिद्ध हो। किन्तु भवानन्द सि0 वा0 ने इस समाधान को भी समीचीन नहीं माना है। उनका कथन है कि जिस अन्धे पुरुष का 'पतन' कभी सम्भव ही न हो उसके विषय में उक्त रीति से शाब्दबोध नहीं हो सकता[31]। अभिप्राय यह है कि जिस अन्ध पुरुष में चलने का सामर्थ्य न होने को कारण पतन क्रिया सम्भव ही न हो उसके विषय में 'कूपवृत्ति अन्धपतनाभाव' कहना निरर्थक होगा, क्योंकि उक्त स्थिति में 'कूपवृत्तित्व' तथा 'अन्धपतनाभाव' -इन अर्थों का अन्वय असम्भव है।

भवानन्द सि0 वा0 ने प्रकृत वाक्य का स्वाभिमत अर्थ प्रतिपादित करते हुए कहा है कि 'वारयति' पद में प्रयुक्त णिजन्त वृ का अर्थ 'अभावानुकूल व्यापार' तथा 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी का अर्थ 'वृत्तित्व' (= आधेयत्व) है। 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया का अर्थ 'प्रतियोगिता' (अथवा 'अनुयोगिता') है जिसका अन्वय धात्वर्थतावच्छेदक फल 'अभाव' में होता है। प्रकृत स्थल में 'कूपात्' पद का प्रयोग होने से कहा जा सकता है कि अन्धे पुरुष (प्रतियोगी) का कूप में रहने वाला जो 'अभाव' है, वह (अभाव) 'पतन' सम्बन्ध से है। 'अन्धा पुरुष' पतन का प्रतियोगी तथा 'पतन' अनुयोगी है। इस प्रकार प्रकृत वाक्य का शाब्दबोध इस रूप में होता है- '*पतनसम्बन्धेन कूपवृत्त्यन्धप्रतियोगिकाभावानुकूलव्यापारविषयकयत्नवान्*' अर्थात् 'अन्धा पुरुष-रूप प्रतियोगी का 'पतन' सम्बन्ध से कूप में रहने वाला जो अभाव, तादृश अभाव का जनक 'व्यापार' है विषय जिस यत्न का, उस यत्न का आश्रय (वारणकर्ता)'[32]। पञ्चमी का अर्थ 'वृत्तित्व' मानने पर जिस कूप में किसी भी व्यक्ति का पतन अप्रसिद्ध हो उस कूप में भी 'अभाव' पतन-सम्बन्ध से रह सकता है। एतदतिरिक्त, जिस अन्धे पुरुष में चलने का सामर्थ्य न होने के कारण पतन क्रिया अप्रसिद्ध अथवा असम्भव है, उस अन्धे पुरुष में भी पतनाभाव की प्रतियोगिता रह सकती है अर्थात् तादृश अशक्त अन्धा पुरुष पतनसम्बन्धावच्छिन्न अभाव का प्रतियोगी हो सकता है।

प्रकृत वाक्य के अर्थ के विषय में 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में उद्धृत एक मत[33] यह है कि 'वारयति' पद में प्रयुक्त णिजन्त वृ का अर्थ 'पतन का प्रतिकूल व्यापार' है अर्थात् ऐसा व्यापार जिससे पतन-रूप फल उत्पन्न नहीं होता। इस अर्थ के एक अंश 'पतन' में अन्धे पुरुष का 'आधेयता' (वृत्तित्व) सम्बन्ध से तथा कूप का, पत् के सकर्मक होने के कारण, 'कर्मत्व' सम्बन्ध से अन्वय होता है, अर्थात् पतन-रूप फल अन्धे पुरुष का 'आधेय' (अर्थात् उसमें रहने वाला) होता है तथा 'कूप' उस 'पतन' के प्रति 'कर्म' कारक होता है। परिणामस्वरूप प्रकृत वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होता है-'अन्धनिष्ठकूपकर्मकपतनप्रतिकूलव्यापारवान्' अर्थात् 'अन्धे पुरुष में रहने वाला तथा कूप-रूप 'कर्म' कारक वाला जो 'पतन' (फल), उस पतन को उत्पन्न न होने देने वाले व्यापार का आश्रय (वारणकर्ता)'।

उक्त मत को नव्य नैयायिक जगदीश तर्कालङ्कार ने समीचीन नहीं माना है। उनका कथन है कि यदि अन्धा पुरुष वस्तुतः कूप में नहीं गिर रहा होगा तो उस स्थिति में 'कूपादन्धं वारयति' वाक्य ही प्रयोग के अयोग्य हो जाएगा, क्योंकि उक्त स्थिति में अन्धे पुरुष में ऐसी 'पतन' क्रिया नहीं होती है जिसका कूप-रूप 'कर्म' कारक के साथ सम्बन्ध हो[34]। जगदीश तर्का0 के अनुसार प्रकृत वाक्य में णिजन्त वृञ् का अर्थ है- 'क्रियाधर्मिकनिवृत्त्यनुकूलव्यापार' अर्थात् 'किसी क्रिया से निवृत्ति का जनक व्यापार'। धातु के इस अर्थ में विद्यमान 'क्रिया' शब्द का, प्रकृत स्थल में, तात्पर्य है-

'पतन' क्रिया। अतः प्रकृत धातु का अर्थ हुआ–'पतन क्रिया से निवारण को उत्पन्न करने वाला व्यापार'। यह व्यापार वारणकर्ता द्वारा किया जाने वाला 'कूपे मा पत' वाक्य का उच्चारण ही है[35]। 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति से ज्ञात होता है कि धात्वर्थ के एक अंश 'निवृत्ति' के प्रति 'कूप' विशेषण(अप्रधान) है। 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति से इस बात का बोध 'अन्धनिष्ठपतनधर्मिककूपप्रकारकनिवृत्त्यनुकूलव्यापारवान्'[36] ('अन्धे पुरुष में रहने वाला जो कूपपतन से निवारण, तादृश निवारण–रूप फल के जनक "कूपे मा पत" वाक्य का उच्चारण–रूप) व्यापार का आश्रय (वारणकर्ता)') – इस प्रकार होता है।

जगदीश तर्क0 के परवर्ती नव्य नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार णिजन्त वृञ् का अर्थ 'क्रिया का प्रतिषेध' होने के कारण उक्त प्रयोग–स्थल में 'वारयति' पद से 'गमन क्रिया का प्रतिषेध अर्थ गृहीत होता है। यहाँ 'प्रतिषेध' का अर्थ है– 'गमन क्रिया के कर्तृत्व का जो अभाव, तादृश अभाव का जनक व्यापार[37]। 'वारयति' पद के इस अर्थ में 'कर्तृत्वाभाव' (अर्थात् 'गमन' क्रिया के कर्तृत्व का अभाव) धात्वर्थतावच्छेदक फल है। इस कर्तृत्वाभाव–रूप धात्वर्थतावच्छेदक फल का आश्रय होने के कारण अन्धे पुरुष की 'कर्म' (कारक) सञ्ज्ञा होती है[38]। 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति से इस बात का बोध होता है कि अन्धे पुरुष की इच्छा का विषय बने हुए कूपनिष्ठ उत्तर देश संयोग–रूप फल की जनकता 'गमन' क्रिया में है। इस 'गमन' क्रिया के कर्ता अन्धे पुरुष में रहने वाली 'इच्छा' का 'कूपात् पद में प्रयुक्त पञ्चमी के अर्थ में अन्तर्भाव कर लेना चाहिये[39], क्योंकि 'कूप' (ईप्सित) की 'अपादान' सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र 'वारणार्थानामीप्सितः' में पठित 'ईप्सितः' पद में इच्छार्थक 'सन्' (स) प्रत्यय प्रयुक्त है[40]। अतः गदाधर के मत में प्रकृत वाक्य का शाब्दबोध 'कूपनिष्ठत्वेन अन्धेच्छाविषयो य उत्तरदेशसंयोगः, तत्फलकान्धनिष्ठव्यापार–विशेषकर्तृत्वाभावानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान्'[41] ('अन्धे पुरुष की इच्छा का विषय बना हुआ जो कूपनिष्ठ उत्तरदेशसंयोग–रूप फल, तादृश फल के जनक व्यापारविशेष (गमन) के कर्तृत्व का जो अभाव, तादृश अभाव के जनक व्यापार (वारण) को उत्पन्न करने वाले 'यत्न' का आश्रय (वारण करने वाला 'चैत्र' आदि)'-इस प्रकार होता है।

नव्य मीमांसक खण्डदेव के मतानुसार 'कूपादन्धं वारयति' स्थल में 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी का अर्थ 'वृत्तित्व' (आधेय होना) है। णिजन्त वृञ् का अर्थ है– 'पतनजनक व्यापार (गमन) के अभाव का जनक व्यापार (वारण)[42]। अतः प्रकृत वाक्य का अर्थबोध इस प्रकार होता है– 'कूपवृत्ति (कूप में रहने वाला) जो अधोदेश से विशिष्ट संयोग, तादृश संयोग को उत्पन्न करने वाली जो 'पतन' क्रिया, उस पतन क्रिया का जनक जो अन्धनिष्ठ व्यापार (गमन), उस व्यापार (गमन) के अभाव का जनक जो व्यापार (वारण), उस व्यापार (वारण) को उत्पन्न करने वाला 'यत्न' वारणकर्ता ('चैत्र' आदि) में है'[43]।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि 'कूपादन्धं वारयति' वाक्य के पदगत घटकों के अर्थ विभिन्न विद्वानों के अनुसार इस प्रकार हैं:– (क) 'कूपात्' पद में प्रयुक्त पञ्चमी का अर्थः– 'ईप्सित'= 'अपादान' (वैयाकरण): 'पतन' (कोई अज्ञात नव्य नैयायिक): 'वृत्तित्व'='आधेयत्व' (कोई अन्य अज्ञात नव्य नैयायिक, भवानन्द सि0 वा0, जगदीश तर्का0, गदाधार भट्टाचार्य और नव्य मीमांसक खण्डदेव)। (ख) 'अन्धम्' पद में प्रयुक्त द्वितीया का अर्थः– 'कर्म' कारक (वैयाकरण):

'वृत्तित्व' (कोई अज्ञात नव्य नैयायिक तथा खण्डदेव); 'पतन' (कोई अन्य अज्ञात नव्य नैयायिक); 'प्रतियोगिता' (भवानन्द सि0 वा0 आदि नव्य नैयायिक)। (ग) 'वारयति' पद में प्रयुक्त णिजन्त वृञ् का अर्थ:- 'प्रवृत्तिविघात' अर्थात् 'संयोग' के जनक 'गमन' व्यापार के अभाव का जनक विमुखीकरण -रूप व्यापार (वैयाकरण); 'प्रतिबन्धजनक व्यापार' (कोई अज्ञात नव्य नैयायिक); 'अभावानुकूल व्यापार' (कोई अन्य अज्ञात नव्य नैयायिक तथा भवानन्द सि0वा0); 'पतनक्रियाध र्मिकनिवृत्त्यनुकूल व्यापार' (जगदीश तर्का0); 'गमन क्रिया के कर्तृत्व के अभाव का जनक व्यापार' (खण्डदेव)। यह कहा जा सकता है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार किया गया अर्थ-विवेचन ही उक्त वाक्य के पदगत घटकों के अर्थभेद का कारण है।

डॉ. अरविन्द कुमार विद्यालंकार
रीडर, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
हरियाणा-१३६११९

पादटिप्पणियाँ

1. अष्टाध्यायी (अमृतसर, 1964), 1.4.27
2. वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात्।
   -भट्टोजिदीक्षित, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (दिल्ली, 1986), सूत्र 590, पृ. 659
3. अपादाने पञ्चमी। -अष्टा. 2.3.28
4. वृञ् आवरणे। -सायणाचार्य, माधवीया धातुवृत्ति (रेवली, 2002), चुरादिगण, धातुसंख्या 207, पृ. 715; टि.-जिनेन्द्रबुद्धि (न्यास (काशिकावृत्ति,वाराणसी, 1965; 1.4.27), पृ. 540), हरदत्त मिश्र (पदमञ्जरी (का.वृ. 1.4.27), पृ. 541), भट्टोजिदीक्षित (शब्दकौस्तुभ (वाराणसी, 1991), 1.4.27, पृ. 119) एवं ज्ञानेन्द्र सरस्वती (तत्त्वबोधिनी (वै.सि.कौ.), पृ. 659) यहाँ चुरादिगणीय वृञ् (वृञ् आवरणे। -मा.धा.वृ., चुरादि., धा. सं. 207, पृ. 715) का प्रयोग मानते हैं। परन्तु सायण (मा.धा.वृ.,पृ. 571) के अनुसार प्रकृत स्थल में स्वादिगणीय वृञ् वरणे +णिच्) प्रयुक्त है।
5. वारणं प्रवृत्तिविघातः। -नागेश, उद्द्योत (महाभाष्य, गुरुकुल झज्जर, 1962; 1.4.27), पृ. 393.
6. भक्षणसंयोगादिजनकव्यापाराभावानुकूलो व्यापारः।
   -नागेश, लघुशब्देन्दुशेखर (बनारस, 1954), पृ. 499
7. यवानां स्वकीयतया संरक्षणीयत्वेन ईप्सितत्वादपादानत्वं न तु गोः, तस्याः परकीयत्वेनानीप्सितत्वात्, ... तथा च 'तथायुक्तं च' इति गोः कर्मत्वाद् द्वितीया।
   -वासुदेवदीक्षित, बालमनोरमा (वै.सि.कौ., सूत्र 590), पृ. 659
8. यदा तु यवाः परकीयाः, गौस्तु स्वकीया, तदा... यवानां परकीयत्वेऽपि तद्विनाशादधर्मः स्यात्। यवस्वामी गामपहृत्य बध्नीयात्। गोस्वामिनं च यवस्वामी दण्डयेत्। अतो यवानां रक्षितुमिष्टतमत्वाद्ईप्सितत्वादपादानत्वमस्त्येव। गोस्तु स्वकीयत्वेऽवेऽपि... वारयितुमिष्टतमत्वात्-कर्मत्वम्। -बा.म. (वै.सि.कौ., सूत्र 590), पृ. 659-60
9. इह 'कूपादन्धं वारयतीति कूपेऽपादानसंज्ञा न प्राप्नोति। न हि तस्य कूप ईप्सितः। कस्तर्हि? अन्धः। - म.भा. (1.4.27), पृ. 394

10. अन्धसंबन्धे कूपस्य न विनाशो नाऽपि राजभयमिति प्रश्नः।
-कैयट, प्रदीप (म.भा., 1.4.27), पृ. 394
11. तस्यापि कूप एवेप्सितः। पश्यत्ययम्- अन्धः कूपं मा प्राप' दिति। -म.भा. (1.4.27), पृ. 394
12. अथवा यथैवाऽस्यान्यत्राऽपश्यत ईप्सैवं कूपेऽपि। -तत्रैव, पृ. 394
इस पर द्र. - निवार्यमाणस्याऽन्धस्य गमनादिक्रियया कूप आप्तुमिष्टो भवतीति प्रवर्त्ततेऽपादानसंज्ञा।
-प्रदीप (म.भा., 1.4.27). पृ. 394
13. स ह्यपश्यन्नपि गन्तव्यं जिगमिषति। अन्यथा न क्वाचित्तस्य प्रवृत्तिः स्यात्।-तत्रैव, पृ.394
14. अन्धस्य च-प्रवृत्यनुमेयेप्सा। तत्रैव, पृ. 394
15. (क) 'ईप्सित' शब्दः क्रियाशब्द आश्रीयते, न तु रूढिशब्दः। -तत्रैव, पृ. 393
(ख) वारणार्थकथातुप्रतिपाद्यव्यापारजन्यफला श्रयत्वमेवाऽत्रेप्सिततत्वम्। -उद्0 (म.भा., 1.4 27),
16. आप्लृ व्याप्तौ। -मा. धा. वृ., स्वादिगण, धा. सं. 15
17. धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा। -अष्टा., 3.1.7
18. मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च।-तत्रैव, 3.2.188
19. ईप्सित इति। वारणार्थधात्वर्थफलाश्रय इत्यर्थः । -ल.श. शे., पृ. 499
20. तुल. - जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्।
- विश्वनाथन्यायपञ्चानन, सिद्धान्तमुक्तावली (वाराणसी, 1981), पृ. 12
21. ...ध्वंसः मुद्गरप्रहारादिना घटो ध्वस्तो विनष्ट इत्यादिप्रतीतिसिद्धो नाशपदध्वंसपदाभिधेयस्तथा चास्य जन्याभावत्वं लक्षणम्।
नारायण तीर्थ, न्याय चन्द्रिका कारिकावली, वाराणसी, 1981) पृ. 13
22. संयोग0- जनकव्यापाराभावानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः।
अभावप्रतियोगिव्यापारजन्यफलाश्रयोऽत्रापादानम्। वारणार्थानामीप्सित इति सूत्रात्
वारणार्थधात्वर्थफलाश्रयत्वमत्रेप्सिततत्वम्। - नागेश, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा (द्वितीय भाग) (वाराणसी, 1989), पृ. 1295
23. हेतुमति च। - अष्टा., 3.1.26
24. किसी वाक्य में प्रयुक्त धातु के अर्थ को 'धात्वर्थ' तथा उसमें (धाात्वर्थ में) रहने वाले ध र्म को 'धात्वर्थता' कहते हैं। धात्वर्थता के आश्रयभूत धात्वर्थ अर्थात् 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाले 'फल' को 'धात्वर्थतावच्छेदक फल' कहा जाता है (द्र.-न्यायकोश (पुण्यपत्तन, 1978), पृ. 85)।
25. द्र. - न्या. को., पृ. 798
26. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसि0। -अष्टा., 4.1.2
27. टाङसिङसामिनात्स्याः। तत्रैव, 7.1.12
28. कूपादन्धं वारयतीत्यादौ पञ्चम्याः पतनं, द्वितीयाया धात्वर्थतावच्छेदकप्रतिबन्धान्वयि वृत्तित्वं, धातोः प्रतिबन्धानुकूलव्यापारः, कृतिराख्यातस्य चार्थः।
-भवानन्द सिद्धान्तवागीश, कारकचक्र (कलिकाता, 1923), पृ. 101 पर उद्धृत।
29. तत्रैव, पृ. 101
30. अयन्तु न युक्तः, यत्कूपे कस्यापि पतनमप्रसिद्धं तत्रासम्भवात्। -तत्रैव, पृ. 101

31. द्वितीयाया: पतनं, पञ्चम्या थात्वर्थतावच्छेदकान्वयिवृत्त्विं धातोश्चाभावानुकूलव्यापारोऽर्थ:, तथा च कूपवृत्त्यन्धपतनाभावानुकूलव्यापारविषयकयत्नवानित्यर्थोऽपि न युक्त:, यदन्धस्य पतनमप्रसिद्धं तत्रासम्भवात्। -तत्रैव, पृ. 102
32. धातोरभावानुकूलव्यापार:, पञ्चम्या वृत्तित्वं, द्वितीयाया: प्रतियोगित्वम् अनुयोगित्वं वा धात्वर्थतावच्छेदकीभूताभावान्वितमर्थ:, अभावश्च कूप... समभिव्याहारवशात् पतनादिसम्बन्धेन बोध्य:। एवञ्च पतन.... सम्बन्धेन कूपवृत्यन्धप्रतियोगिकाभावानुकूलव्यापारविषयकयत्नवान् इत्यन्वयधी:।-तत्रैव, -तत्रैव, पृ. 102
33. कृष्णकान्त विद्यावागीश के अनुसार यह मत वैयाकरणों का है (द्र.- कृष्णकान्ती टीका (शब्दशक्तिप्रकाशिका, वाराणसी, 1973), पृ. 305)।
34. यत्तु- पतनादिप्रतिकूलव्यापार एव वारणं, तदेकदेशे च पतनादावन्धादेराधेयत्वेन कूपादे: कर्मत्वेनान्वयादन्धनिष्ठस्य कूपकर्मकपतन्स्य प्रतिकूलव्यापारवानित्यादिरूप: 'कूपादन्धं वारयती' -त्यादितो बोध इति। तत्तुच्छम्, तादृशपतनस्याप्रसिद्धस्थले तथाविधवाक्यस्यायोग्यतापत्ते:। -श.श.प्र., पृ. 305
35. 'कूपादन्धं वारयति'...इत्यादौ च क्रियाधर्मिकनिवृत्त्यनुकूलव्यापारो वारणं,... क्रिया च पतन0... आदिर्विशेषतो ग्राह्या।... तथाविधनिवृत्त्यनुकूलव्यापारश्च स्वार्थधीद्वारा 'कूपे मा पत'... इत्याद्यभिलापरूप: स्फुट एव। - तत्रैव, पृ. 304
36. अन्धनिष्ठाया: पतनधर्मिककूपप्रकारकनिवृत्ते:... अनुकुलव्यापारवानित्याकारकस्तत्र बोध:।-तत्रैव, पृ. 304
37. 'कूपादन्धं वारयति' इत्यादौ....वारणं क्रियाप्रतिषेध:। क्रिया च... गमनादिरूपा। प्रतिषेध: कर्तृत्वाभावानुकूलव्यापार:। व्युत्पत्तिवाद (तिरुपति, 1985), पृ0 141
38. कर्तृत्वाभावरूपधात्वर्थतावच्छेदकफलशालितया.... अन्धादे: कर्मता। -तत्रैव, पृ. 141
टि.- नैयायिक-मत में 'कर्म' कारक का लक्षण इस प्रकार है-
'परसमवेतधात्वर्थजन्यधात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वम्' (द्र.-अरविन्दकुमार, भवानन्द-कृत कारकचक्र : एक अध्ययन (व्याकरणशास्त्र एवं नव्यन्याय के आलोक में) (कुरूक्षेत्र, 1992), पृ. 73)। इस लक्षण के अनुसार द्वितीयान्त पद के प्रकृत्यर्थ से भिन्न में होने वाली क्रिया से उत्पन्न ऐसे 'फल' के आश्रय की 'कर्म' सञ्ज्ञा होती है जो (फल) धात्वर्थतावच्छेदक हो अर्थात् धात्वर्थता के आश्रय धात्वर्थ 'व्यापार' से उत्पन्न हुआ हो।
39. तुल.- यवादिपदोत्तरपञ्चम्या यवादिगतत्वेनेच्छाविषयफलकत्वं भक्षणादौ प्रत्याय्यते, इच्छा च भक्षणादिक्रियाकर्तृगवादिनिष्ठा तदर्थेऽन्तर्भावनीया।- तत्रैव, पृ. 141
40. .... सूत्रकृता ''ईप्सित:''इत्यत्र सन्प्रत्ययेनेच्छोपदानम्। - तत्रैव, पृ. 142
41. द्र.- तत्रैव, पृ. 141-42
42. 'कूपादन्धं वारयतीत्यत्र' वृत्तित्वं पञ्चम्यर्थ:, पतनानुकूलव्यापाराभावानुकूलो व्यापारो धात्वर्थ:। -भाट्टतन्त्ररहस्य (वाराणसी, 1970), पृ. 132
43. 'कूपवृत्ति अध:प्रदेशावच्छिन्नसंयोगानुकूलक्रियारूपं यत् पतनम्, तदनुकूलो योऽन्धवृत्तिव्यापार:, तदभावानुकूल: यो व्यापार:, तदनुकूलकृतिश्चैत्रवृत्तिरिति बोध:पर्यवसित:। -तत्रैव, पृ. 132.

आर्यसमाज की शास्त्रार्थ- परम्परा

आर्यसमाज की विचाराधारा को जन-जन तक पहुँचाने तथा विभिन्न मतमतान्तरों के आचार्यो एवं विद्वानों द्वारा वैदिक मन्तव्यों के विपरीत दुष्प्रचार का खण्डन-मण्डन करने के उद्देश्य से आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में शास्त्रार्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कितने ही 'शास्त्रार्थ महारथी' आर्य विद्वानों ने विरोधी धर्माचार्यों को शास्त्रार्थों में पराभूत कर वैदिक धर्म के प्रचार में अपना अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया है। शास्त्रार्थों की यह परम्परा महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन-काल में ही आरम्भ हो गई थी। उन्होंने पौराणिक, पण्डितों, ईसाई पादरियों और मुसलमान मौलवियों से अनेकों शास्त्रार्थ किये और उनके मन्तव्यों की आलोचना कर वैदिक धर्म की युक्तियुक्तता व उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया। वस्तुत: उनके ये शास्त्रार्थ वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रबल माध्यम थे। 20 वीं सदी के पूर्वाद्ध में अनेक आर्य विद्वानों ने स्थान-स्थान पर जाकर जो शास्त्रार्थ किये, उनका स्वरूप प्राय: सार्वजनिक हुआ करता था और उनमें हजारों की संख्या में जन-समुदाय एकत्र होता था, जबकि स्वामी दयानन्द जी के समय में शास्त्रार्थ-सभा में केवल ऐसे लोगों को ही उपस्थिति होने दी जाती थी, जिनमें शास्त्रार्थ के लिए नियत विषय एवं विचार-विनिमय को समझ सकने की क्षमता हो। आर्यसमाज द्वारा आयोजित ये शास्त्रार्थ काफी लोकप्रिय होते थे।

पाठकों को आर्यसमाज की इस विद्या से परिचित कराने के उद्देश्य से यहाँ कतिपय प्रमुख शास्त्रार्थ महारथियों के कर्तृत्व का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापवना से पूर्व और पश्चात् अनेक स्थानों पर विरोधी मतावलम्बियों से भिन्न-भिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ किये। उनका प्रथम शास्त्रार्थ सन् 1867 ई0 में अनूपशहर (उ0प्र0) में पंडित अम्बादत्त पर्वती से 'मूर्तिपूजा' विषय पर हुआ, जिसमें पंडित जी मूर्तिपूजा को वैदिक सिद्ध करने में असमर्थ रहे। अनूपशहर से आरंभ हुआ शास्त्रार्थ का यह क्रम आजीवन जारी रहा। स्वामी जी ने सन् 1867 ई0 से 1882 के मध्य जिन स्थानों पर पौराणिक मतावलंबियों से शास्त्रार्थ किये उनमें प्रमुख हैं: कर्णवास (1867), ककोडा (1867), फर्रुखाबाद (1869), कन्नौज (1869), मिर्जापुर (1870), डुमरांव (1870), आरा (1872-1873), पटना, कलकत्ता (1873), छपरा (1873)I, सूरत (1874), भडौंच, राजकोट (1875), बम्बई (1875-1876),बड़ौदा (1875), बरेली (1876), चांदापुर (1877), बदायूँ, शाहजहाँपुर (1876), आदि। इनमें से अधिकांश शास्त्रार्थों का विषय मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद ही था। काशी के दुर्गाकुण्ड के निकट आनन्दबाग में 16 नवम्बर 1899 को काशी नरेश की अध्यक्षता में स्वामी विशुद्धानन्द, पं0 बाल शास्त्री, पं0 ताराचरण तर्करत्न, पं0 माधवाचार्य, पं0 वामनाचार्य आदि पंडितों के साथ मूर्तिपूजा के औचित्य विषयक शास्त्रार्थ के कारण स्वामी दयानन्द के पाण्डित्य की सर्वत्र धूम मच गयी। काशी के अतिरिक्त कानपुर में पंडित हलधर ओझा, डुमरांव में शैव पंडित दुर्गादत्त, हुगली में पंडित ताराचरण तर्करत्न, कर्णवास में पण्डित हीरावल्लभ, ककोड़ा मेले में पंडित उमादत्त के साथ हुए शास्त्रार्थ भी उल्लेखनीय है।

स्वामी जी ने न केवल हिन्दू पौराणिक पंडितों से वरन् ईसाई पादरियों एवं मुसलमान मौलवियों से भी शास्त्रार्थ किये। इनमें चांदापुर (शाहजहांनपुर), मुरादाबाद, बरेली, अजमेर, जालंधर और उदयपुर के शास्त्रार्थ उल्लेखनीय हैं, चांदापुर मेले में सत्य धर्म की जिज्ञासा हेतु 15 मार्च 1877 से 22 मार्च

1877 तक आयोजित शास्त्रार्थ में आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में महर्षि दयानन्द एवं मुंशी इन्द्रमणि (मुरादाबाद) सम्मिलित हुए, जबकि देवबंद वाले मौलवी मुहम्मद कासिम और पादरी जे0टी0 स्काट (बरेली) इस्लाम और ईसाई मतों में प्रतिनिधि थे। इस शास्त्रार्थ का विशद विवरण -सत्य धर्म विचार' शीर्षक से प्रकाशित होचुका है। बरेली का शास्त्रार्थ 25-27 अगस्त 1879 को पादरी जे0टी0 स्काट के साथ आवागमन, ईश्वर के देह-धारण करने तथा ईश्वर तथा जीवों के पाप क्षमा करना आदि विषयों पर लिखित रूप में हुआ था। यह शास्त्रार्थ भी 'सत्यासत्य विवेक' शीर्षक से छप चुका है। इसके अतिरिक्त सन् 1866 में मुरादाबाद में स्वामी जी का पादरी डब्ल्यू. पार्कर के साथ लिखित रूप में शास्त्रार्थ हुआ था जो 15 दिन तक चला, जिसमें स्वामी जी ने ईसाई सिद्धान्तों का खण्डन किया था। जालन्धर में 'आवागमन और चमत्कार' विषय पर मौलवी अहमद हसन, उदयपुर में मौलवी अब्दुल रहमान जज के साथ 11-17 सितम्बर 1882 को तथा अजमेर में 28 नवम्बर 1878 को पादरी ग्रे और डॉ0 हजबैण्ड के साथ संपन्न शास्त्रार्थ भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

२.आर्य पथिक पंडित लेखराम

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के उपदेशक के रूप में कार्य करते हुए पंडित लेखराम ने अनेक शास्त्रार्थ किये। जब पंडित जी पुलिस सेवा में थे उस समय उनके सुपरिन्टेन्डेन्ट अपने डिपुटी रीडर मुहम्मद वजीर अली के साथ पंडित जी के शास्त्रार्थ करवाया करते थे। कादियाँ के मिर्जा गुलाम अहमद का पंडित जी ने शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया। मिर्जा जी शास्त्रार्थ के लिए तो तैयार नहीं हुए, परन्तु पंडित जी ने उनके द्वारा रचित 'बुराहीन अहमदिया' के उत्तर में 'तकजीब बुराहीन अहमदिया', लिखी । हैदराबाद सिंध में मौलवी सैयद मुहम्मद अली शाह के साथ पैगम्बर के मौजियों (करामात चमत्कार) पर शास्त्रार्थ किया। भागोवाला (गुरदासपुर) के उत्सव पर एक मुसलमान ग्रेजुएट से नियोग विषय पर शास्त्रार्थ हुआ। मौलवियों के अतिरिक्त पंडित जी ने नाहन, नकोदर, रोपड़ आदि में पौराणिक पंडितों से तथा डेरागाजी खां में एक पादरी से शास्त्रार्थ किया।

३.स्वामी श्रद्धानन्द

आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता, गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक, शुद्धि एवं संगठन में मंत्रदाता स्वामी श्रद्धानन्द जहाँ एक ओर ख्याति प्राप्त लेखक, पत्रकार एवं व्याख्याता थे, वहीं दूसरी ओर उन्हें शास्त्रार्थ में भी महारथ प्राप्त थी। उनके द्वारा लाहौर से 'अखबारे आम' नामक पत्र के प्रकाशक काश्मीरी पंडित गोपीनाथ-जो अपने पत्र में आर्य समाज और ऋषि दयानन्द के संबंध में अनर्गल बातें लिखा करता था-से सन् 1898 में लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर मूर्तिपूजा, श्राद्ध तथा वेद संज्ञा विचार आदि विषयों पर किया गया शास्त्रार्थ बहुचर्चित रहा। एक महीने बाद इन दोनों का जालन्धर में पुनः शास्त्रार्थ हुआ।

४. पंडित भीमसेन शर्मा

महर्षि दयानन्द के शिष्य, स्वामी जी के ग्रन्थों का लेखन-कार्य करने वाले, वैदिक मंत्रालय प्रयाग के प्रबन्धक तथा आर्यसिद्धान्त' नामक मासिक पत्र के प्रकाशक इटावा निवासी पं0 भीमसेन शर्मा अपने पत्र के माध्यम से ही लिखित शास्त्रार्थ किया करते थे। उन्होंने पौराणिक विद्वानों द्वारा लिखे गये आर्य समाज विरोधी ग्रन्थों का उत्तर लिखा। इन ग्रन्थों में प्रमुख है: पं0 राममोहन शर्मा का महामोह विद्रावण' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेद संज्ञा विचार प्रकरण का खण्डन) का उत्तर, हरिशंकर

शास्त्री के 'सद्धर्म दूषणोद्धार' का उत्तर, जैन साधु पंडित आत्माराम कृत 'अज्ञान, तिमिर भास्कर- का उत्तर, साधु सिंह लिखित 'सत्यार्थ विवेक' का खण्डन आदि। इसके अतिरिक्त पंडित जी ने फिरोजाबाद में जैन विद्वानों से भी शास्त्रार्थ किया।

५. स्वामी नित्यानन्द एवं स्वामी विश्वेश्वरानन्द सरस्वती

इन संन्यासीद्वय ने अपने जीवनकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ किये, जिनमें नरसिंहगढ़ रोवला(नासिक) तथा बूंदी के शास्त्रार्थ प्रसिद्ध हैं। नरसिंहगढ़ का शास्त्रार्थ वहाँ के राजपण्डितों से नरसिंहगढ़ नरेश की अध्यक्षता में श्रावण शुक्ता 5, संवत् 1945 विक्रमी को हुआ था। बूंदी शास्त्रार्थ दोनों पक्षों द्वारा संस्कृत में लिखे गये पत्रों के माध्यम से 'ब्राह्मण भाग का वेद होना या न होना' विषय पर हुआ था। इस शास्त्रार्थ में पं0 गंगासहाय, श्री नवनन्द शर्मा, श्री व्यास हरिदास तथा श्री निवास ताताचार्य ने पौराणिक पंडितों का प्रतिनिधित्व किया था। यह शास्त्रार्थ संवत् 1946 में वैदिक मंत्रालय प्रयाग से प्रकाशित हुआ था।

६.पण्डित गणपति शर्मा

पंडित गणपति शर्मा अपने समय के उच्चकोटि के शास्त्रार्थ महारथी थे। 10-15 हजार श्रोताओं के समूह को बिना माइक आदि के कई-कई घंटों तक धारा प्रवाह भाषण देने में सक्षम थे। उनके विभिन्न मतमतान्तरों के आचार्यों से विविध विषयों पर शास्त्रार्थ हुए। उन्होंने गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के उत्सव पर रुड़की के पादरी श्री जे0 वी0 फ्रेंक से, श्रीनगर (कश्मीर) में पादरी जानसन से, कोटा में पौराणिक पंडित श्री आत्मानन्द से, झालावाड में वहाँ के नरेश के नाना महाराज बलभद्रसिंह की अध्यक्षता में पंडित जयदेव मीमांसाचार्य से, झालावाड़ में ही पं0 भीमसेन शर्मा से तथा महाविद्यालय ज्वालापुर के उत्सव पर स्वामी दर्शनानन्द से 'वृक्षों में जीव' विषय पर शास्त्रार्थ किये तथा ख्याति अर्जित की।

७. स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

आर्यसमाज के अद्वितीय दार्शनिक विद्वान् तर्क शिरोमणि, तथा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के संस्थापक स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती ने अपनी शास्त्रार्थ-प्रतिभा के कारण अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। उन्होंने 'स्वामी दयानन्द ने देव शब्द का अर्थ विद्वान् किया है, यह ठीक नहीं है' इस विषय पर काशी के महामहोपाध्याय पं0 शिवकुमार शास्त्री से शास्त्रार्थ किया जो उनका प्रथम महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ था। 19-21 फरवरी 1901 को आगरा में आपका पं0 भीमसेन शर्मा से, 29-30 मार्च 1901 को बिजनौर में 'प्रायश्चित्त' विषय पर पं0 भमसेन शर्मा (इटावा) एवं पं0 ज्वाला प्रसाद मिश्र से, 1962 विक्रमी धामपुर में 'श्राद्ध' विषय पर पण्डित बिहारी लाल से, 8 अप्रैल 1912 को ज्वालापुर महाविद्यालय में 'स्थावर वृक्षों में जीव' विषय पर पं0 गणपति शर्मा से तथा जून 1912 ई0 में 'ईश्वर सृष्टिकर्ता है' विषय पर जैन पण्डित गोपालदास बरैया से शास्त्रार्थ हुआ तथा प्रतिपक्षियों को पराजय का मुख देखना पड़ा। आपने न केवल पौराणिक पण्डितों से, वरन् मुसलमान मौलवियों से भी सफल शास्त्रार्थ किए। आगरा में आपका संन्यासाश्राम प्रवेश से पूर्व वेद तथा कुरान में से कौन-सी पुस्तक इल्हामी है' विषय पर मौलवी अब्दुल फरह और मौलवी अब्दुल हमीद पानीपती से शास्त्रार्थ हुआ था जिसकी मध्यस्थता एक यूरोपीय श्री जेसफारनेन ने की थी। आपका एक बृहत् शास्त्रार्थ सन् 1903 ई0 को देवरिया में 'वेद अथवा कुरान का ईश्वरोक्त होना' विषय पर मौलवी अमृतसरी सनाउल्ला

मौलवी अब्दुलहक देहलवी आदि से हुआ था। उक्त दोनों शास्त्रार्थ तथा आगरा शास्त्रार्थ उर्दू में प्रकाशित हुए थे।

८. पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी

शास्त्रार्थ महारथी के रूप में विख्यात पंडित बुद्धदेव मीरपुरी को प्रारम्भ से ही शास्त्रार्थ-कला के प्रति विशेष अभिरुचि थी, परिणामतः काशी में अध्ययन करते हुए वे वहाँ के पौराणिक पण्डितों से तर्क पूर्ण ढंग से शास्त्रार्थ करते थे। मीरपुर में पुरोहित का कार्य करते समय इन्होंने पण्डित माधवाचार्य, पण्डित अखिलानन्द आदि से शास्त्रार्थ किया। इसके साथ शास्त्रार्थों का जो क्रम आरम्भ हुआ वह आजीवन चलता रहा। इन्होंने शामचौरासी (होशियारपुर) में 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की वेदानुकूलता, उचकोट (लायलपुर) में 'पुराणों की वेदानुकूलता' विषय पर पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री से शास्त्रार्थ किये। इन्हीं शास्त्री जी से उन्होंने ऊधमपुर (जम्मू) एवं मियानी(शाहपुर) में भी शास्त्रार्थ किये। इसके अतिरिक्त पंडित मीरपुरी जी ने लाहौर छावनी में पण्डित अखिलानन्द, माधवाचार्य एवं स्वामी प्रकाशानन्द से, हालवास (भिवानी) में पं0 जगदीशचन्द्र शास्त्री से, अम्बाला छावनी में जैन आचार्य कर्मानन्द से, बद्दोमल्ली (स्यालकोट) में मौलवी सनाउल्लाह अमृतसरी से तथा समुद्रतीर्थ (करनाल) एवं बटाला (गुरदासपुर) में पण्डित माधवाचार्य से सफल शास्त्रार्थ किये। भारत में ही नहीं, वरन् नैरोबी (अफ्रीका) में भी पण्डित मीरपुरी ने पण्डित माधवाचार्य से शास्त्रार्थ किया।

९. प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्रो0 इन्द्र विद्यावाचस्पति जब गुरुकुल कांगड़ी से स्नातक बनकर निकले उस समय सन् 1916 में उनका सनातन धर्म के ख्याति प्राप्त विद्वान् महामहोपाध्याय पं0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से 'वर्ण व्यवस्था' पर शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ ऐतिहासिक महत्त्व का था, जिसमें आवश्यकतानुसार प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए प्रचुर मात्रा में साहित्य लाया गया था। प्रो0 इन्द्र जी द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के समक्ष पंडित जी को घुटने टेकने पड़े। इस शास्त्रार्थ का विवरण कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था।

१०. पं० बुद्धदेव विद्यालंकार

आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथियों की परम्परा में पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार की अद्वितीय भूमिका रही है। अपने जीवन काल में उन्होंने पौराणिक मतावलम्बियों के साथ अनेक शास्त्रार्थ किये, जिनमें आपके शास्त्रसम्मत अकाट्य प्रमाणों के आगे प्रतिपक्षी विद्वान् टिक नहीं पाते थे। उन्होंने 27-30 जून 1929 ई0 को नीमच (म0 प्र0) मैं पंडित अखिलानन्द नवरत्न एवं पण्डित कालूराम शास्त्री से 'सत्यार्थप्रकाश'प्रभृति ग्रन्थ सर्वथा वेदविरुद्ध हैं, क्या आर्यसमाजी स्वयं स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों को जूते तले कुचलते हैं, आदि विषयों पर शास्त्रार्थ किये। आप द्वारा 3-6 जुलाई 1935 ई0 को हैदराबाद दक्षिण में पौराणिक विद्वान् पं0 माधवाचार्य शास्त्री से 'वर्ण व्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव से है या जन्म से-, 'स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थ वेद विरुद्ध और कपोल कल्पित हैं, एवं मूर्तिपूजा' विषयों पर किया गया शास्त्रार्थ आर्यसमाज के इतिहास में बहुचर्चित रहा, जिसमें पंडित बुद्धदेव जी ने प्रतिपक्षी द्वारा यह कहे जाने पर कि यदि आप मूर्तिपूजा नहीं मानते तो स्वामी दयानन्द के चित्र पर जूता मार कर दिखाइये तो हम जानें कि आप जड़ोपासना नहीं मानते' महर्षि दयानन्द के चित्र पर जूता मार दिया। उनके इस कृत्य की आर्यसमाज के हर स्तर पर उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया

हुई। इनके अतिरिक्त पंडित जी ने आर्यसमाज डीडवाना (राजस्थान) में पंडित माधवाचार्य और पंडित अखिलानन्द से, दिल्ली में पं0 लक्ष्मीचन्द्र शर्मा से, पाली में एक गरीबदासी सम्प्रदाय के साधु से तथा दूबलधन, माजरा और बेरी में काशी के पंडितों से अनेक शास्त्रार्थ किये। रोहतक में आयोजित शास्त्रार्थ स्वयं में विलक्षण था जिसका विषय था 'ऊंट की दाढ़ें नहीं होती है।, अशुद्ध हैं, इसमें पंडित जी ने दष्ट्र और दाढ़ों की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए यह पुष्ट किया कि इस पशु के स्थूल रूप में दाढ़ नहीं होती हैं। पौराणिक पंडित के अपने मत पर अड़े रहने पर पंडित जी ने सभा में ऊंट मंगाकर उसके मुंह में हाथ डालकर दाढ़ न होने की पुष्टि स्वयं कर ली।

वे प्रमाण रूप में महर्षि दयानन्द के संदर्भों, वैदिक ऋचाओं को उद्धृत करते हुए अपने पक्ष की स्थापना और प्रतिपक्षी के मत का खण्डन इतने मार्मिक एवं तर्क संगत ढंग से किया करते थे कि विरोधी विद्वान् को पराजय स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं मिलता था।

पंडित जी के कुछ शास्त्रार्थ पुस्तक रूप में तथा कुछ शास्त्रार्थ-संग्रह के अंश के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

११. पं० रामचन्द्र देहलवी

आर्यसमाज के अद्वितीय वक्ता, शास्त्रार्थ महारथी तथा इस्लाम एवं ईसाई मत के मर्मज्ञ विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित पंडित रामचन्द्र देहलवी अपने व्याख्यानों एवं शास्त्रार्थों में ईसाई तथा मुसलमान धर्म प्रचारकों का मुंहतोड़ उत्तर दिया करते थे। उन्होंने कुरान का विधिवत् अध्ययन किया था और कुरान का जितना शुद्ध उच्चारण वे करते थे वैसा बड़े-बड़े मुल्ला-मौलवियों का भी नहीं था। उन्होंने सैंकड़ों शास्त्रार्थ किये, जिनमें कतिपय उल्लेखनीय हैं। उन्होंने बाड़ा हिन्दूराव दिल्ली में पहली बार मौलवियों से शास्त्रार्थ किया और अपूर्व सफलता प्राप्त की। मुजफ्फरपुर में ईसाई पादरी रेवरेण्ड जुडाह की मध्यस्थता में मुसलमानों से शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने एक शास्त्रार्थ में किसी मौलवी से आयत पढ़ने में जबर जेर के ऊपर विवाद होने पर जब कुरान खोलकर वास्तविकता प्रदर्शित की तो मौलवी ने अपनी भूल स्वीकार कर ली। कालांतर में आप द्वारा दीनानगर (पंजाब) में मौलवी अल्लाहदित्ता से, फतहपुर हसुवा में दार्शनिक विषयों पर कानपुर के एक मौलवी से, बरेली में कुरान के ईश्वरीय ज्ञान होने के प्रश्न पर तथा पिलखुआ (मेरठ) में आदम और हव्वा के प्रथम दम्पती होने पर शास्त्रार्थ हुए उन्होंने सभी शास्त्रार्थों में अपूर्व सफलता प्राप्त की।

१२. शास्त्रार्थ केसरी ठाकुर अमर सिह आर्य पथिक (अमर स्वामी सरस्वती)

अरबी, फारसी तथा संस्कृत के साथ-साथ वैदिक सिद्धान्तों एवं ईसाई एवं इस्लाम धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरांत आर्य प्रतिनिधि सभा लाहौर में उपदेशक के रूप में कार्यरत पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक ने पौराणिक पण्डितों, जैन विद्वानों, मौलवियों आदि के साथ समय-समय पर अनेक शास्त्रार्थ किये। इन धर्माचार्यों में प्रमुख थे सर्वश्री पं0 कालूराम शास्त्री, अखिलानन्द कविरत्न, राजनारायण षट्शास्त्री, माधवाचार्य, स्वामी कर्मानन्द, पं0 राजेन्द्र कुमार मौलवी, सनाउल्लाह अमृतसरी, मौ0 लालहुसैन, मौ0 खुदादाद खाँ आदि। आपके द्वारा किए गए कतिपय उल्लेखनीय शास्त्रार्थ हैं श्यामचौरासी (होशियारपुर), मियानी (शाहपुर) एवं उचकोट (लायलपुर) में पंडित श्रीकृष्ण शास्त्री से, लाहौर छावनी में पं0 अखिलानन्द, पं0 माधवाचार्य एवं स्वामी प्रकाशानन्द से, हालूबांस (भिवानी) में पं0 जगदीशचन्द्र शास्त्री से, अम्बाला छावनी में जैन विद्वान्

पं0 राजेन्द्र से, बंद्दोमल्ली (सियालकोट) में मौलाना सनाउल्ला अमृतसरी से। आपके शास्त्रार्थों का प्रमुख विषय 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की वेदानुकूलता' हुआ करता था। शास्त्रार्थों में महारथ प्राप्त करने के साथ-साथ उन्होंने 'आर्य सिद्धान्त सागर' नामक एक ऐसे अद्‌भूत ग्रन्थ का निर्माण किया था जिसमें शास्त्रार्थोपयोगी विषयों से संबंधित सैंकड़ों शास्त्रीय प्रमाण एकत्रित हैं। इसी के साथ आपने आर्यसमाज के विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए शास्त्रार्थों को संकलित कर 'निर्णय के तट पर शीर्षक ग्रन्थ तीन खण्ड) प्रकाशित करवाया।

१३. पण्डित रामसहाय शर्मा (स्वामी अभेदानन्द सरस्वती)

राजस्थान में नगर-नगर, गांव-गांव में वैदिक धर्म के प्रचार की अलख जगाने वाले तथा आरम्भ में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान में आर्योपदेशक पं0 रामसहाय शर्मा ने पौराणिक विद्वानों से अनेक शास्त्रार्थ किये। उनका प्रथम शास्त्रार्थ भारत धर्म महामण्डल के स्वामी हीरानन्द से 'मूर्तिपूजा' पर हुआ था, जिसमें पौराणिकों ने पक्षपोषण में अपनी निर्बलता जानकर पंडित जी पर जलती हुई लकड़ी फेंकी थी। इसी प्रकार सन् 1924 ई0 में फतहपुर (शेखावटी) में शास्त्रार्थ के दौरान एक मन्दिर के पुजारी ने नंगी तलवार से पंडित जी पर प्रहार करने का प्रयास किया। सन् 1928 में उन्होंने फुलेरा जंक्शन में भी 'मूर्तिपूजा' विषय पर, सन् 1940 ई0 में ग्राम डांगावास में पंडित श्रीपति से 'वर्णव्यवस्था' के संबंध में तथा छोटी सादड़ी (मेवाड़) में प्रख्यात पौराणिक पं0 कालूराम के शिष्य श्री कल्पनाथ शास्त्री से 'ईश्वर का निराकारवाद' विषय पर सफल शास्त्रार्थ किये।

१४. पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड (स्वामी धर्मानन्द सरस्वती)

आर्यसमाज के ख्याति प्राप्त विद्वान्, वेदों के मर्मज्ञ, लेखक पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने पौराणिक विद्वानों एवं ईसाइयों से मुख्यतया बाल विवाह, जातिभेद, अस्पृश्यता, मूर्तिपूजा, यज्ञों में पशुहिंसा, पशुबलि आदि विषयों पर शास्त्रार्थ किये। आपके अधिकांश शास्त्रार्थ दक्षिण भारत में वेद धर्म का प्रचार करने की अवधि में ही हुए। उन्होंने बाल विवाह के औचित्य पर शास्त्रार्थ के लिए मैसूर राज्य में पण्डितों का आह्‌वान किया। यह शास्त्रार्थ 24 जनवरी 1931 ई0 को बंगलौर में 'वीर केसरी' के संपादक पण्डित सीताराम शास्त्री से हुआ था। सन् 1938 में धर्मावरम् में आपने पशु यज्ञों के विरोध में शास्त्रार्थ किया जिसका इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि वहाँ के जनसमुदाय ने आपकी जय जयकार करते हुए विराट् शोभायात्रा निकाली। सन् 1937 में उन्होंने नन्नपटन (मैसूर) में प्रसिद्ध लिंगायत कथावाचक विद्वान् पं0 शिवमूर्ति शास्त्री से मूर्तिपूजा पर तथा सन् 1932 में उडवी मठ (दक्षिण कर्नाटक) में वर्णव्यवस्था पर पौराणिकों से सफल शास्त्रार्थ किया। इसके अतिरिक्त आपके फादर कोटीं, एण्ड्रूज आदि पादरियों से भी शास्त्रार्थ हुए।

१५. पण्डित शान्ति प्रकाश महोपदेशक

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महोपदेशक पण्डित शान्ति प्रकाश ने दिल्ली और पंजाब में शास्त्रार्थ महारथी के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की। शास्त्रार्थों में सार्वजनिक सफलता प्राप्त करने के निमित्त उन्होंने सस्कृत और अरबी दोनों भाषाओं में प्रवीणता प्राप्त की थी। सभा में उपदेशक बनने के बाद आपका पहला कार्यक्रम सुल्तानपुर लोधी में शास्त्रार्थ का मिला। दूसरा शास्त्रार्थ गीरा नामक स्थान में मिर्जाई सम्प्रदाय के अनुयायियों से हुआ। इसके बाद उन्होंने बरेटा मण्डी के निकट एक गांव में पं0 कालूराम शास्त्री से संस्कृत में शास्त्रार्थ किया। आपके अन्य उल्लेखनीय शास्त्रार्थ हैं: झोंक

उतरा (डेरा गाजी खाँ) में पौराणिकों से, कोट अड्डु (मुजफरगढ़ा) में 'अवतारवाद' पर पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री से, पाक पट्टन में श्राद्ध विषय पर दो बड़े शास्त्रार्थ, देश विभाजन के बाद सालवन (करनाल) में पं0 माधवाचार्य से 'नमस्ते और पुराण' विषय पर दो शास्त्रार्थ, तथा धुनौंदा (महेन्द्रगढ़) में भी पंडित माधवाचार्य से दो शास्त्रार्थ किये।

देश विभाजन से पूर्व पण्डित जी ने पूर्वी पंजाब, दिल्ली, सिंध तथा सीमा प्रान्त में मुसलमानों तथा कादियानी मिर्जाई लोगों से सैंकड़ों शास्त्रार्थ किये। यथा-लाहौर में मौलवी अब्दुल हक मिर्जाई से, अमृतसर में मौलवी सनाउल्लाह, मौलवी अस्मतुल्लाह तथा मिर्जा मुजफरबेग से, राजनपुर में मुजफर बेग से (15 दिन तक) तथा शेरग्राम के निकट एक अरबी के विद्वान् मौलवी से। इसके अतिरिक्त उन्होंने पेशावर, कराची, डेरा गाजी खां, मुलतान, सरगोधा, लाहौर, दीनानगर, संगरूर, भटिंडा आदि में भी अनेक मुसलमान मौलवियों के साथ शास्त्रार्थ किये। इनमें से दीनानगर में दो दिन तक खलीलदास चतुर्वेदी से, पठानकोट में मौलवी मोहम्मद ऊमर, मौलवी अल्लाहदित्ता एवं एक अन्य मौलवी से, पिण्डी भाटियां और दीवानहाल दिल्ली में मौलवी मोहम्मद ऊमर से शास्त्रार्थ करके विजयश्री प्राप्त की । भारत विभाजन के बाद उन्होंने उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद, गोंडा, झांसी, लखनऊ एवं सहारनपुर, बंगाल में कलकत्ता आदि नगरों में भी शास्त्रार्थ किये।

पण्डित जी ने न केवल मौलवियों, वरन् ईसाई पादरियों से भी शास्त्रार्थ किये। उन्होंने इलाहाबाद में ईसाइयों के सबसे बड़े पादरी अब्दुल हक, पादरी वाशिंगटन तथा पादरी रलियाराम को पराजित किया।

१६. पंडित ओमप्रकाश शास्त्री

आर्य समाज के ख्याति प्राप्त उपदेशक एवं पुरोहित पण्डित ओमप्रकाश शास्त्री ने पण्डित रामचन्द्र देहलवी से शास्त्रार्थ कला का अभ्यास करके उसमें प्रवीणता प्राप्त की। उन्होंने एक बार लालकुँआ दिल्ली स्थित गिरजाघर में प्रज्ञाचक्षु पादरी अहमद मसीह से शास्त्रार्थ किया। कालांतर में भी उनके इन्हीं पादरी से अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। शास्त्रार्थ के विषय पुनर्जन्म, त्रैतवाद, नियोग आदि रहते थें इन्होंने एक शास्त्रार्थ कैम्ब्रिज मिशन के पादरी श्री पाइज से जीव तथा प्रकृति के अनादित्व एवं अस्तित्व विषय पर किया। कालांतर में श्री अब्दुल हक पादरी, मौलाना शेर मुहम्मद, मौलाना बशीर अहमद, पादरी वाशिंगटन, पादरी सादिक, पादरी लूक जैसे व्यक्तियों से सफल शास्त्रार्थ किये। जुलाई 1936-...........को बेहट (सहारनपुर) में इनके पादरी गुलाम मसीह से 'मोक्ष तथा आवागमन' विषय पर दो लिखित और दो मौखिक शास्त्रार्थ हुए।

इसके अतिरिक्त शास्त्री जी ने कतिपय पौराणिक पंडितों से शंका समाधान और शास्त्रार्थ किये, जिनमें पण्डित माधवाचार्य, पण्डित राजनारायण, 'अरमान', श्री प्रेमाचार्य आदि प्रमुख है। 1969 ई0 कांशी में आयेजित दयानन्द शास्त्रार्थ शताब्दी समारोह के अवसर पर पौराणिक पंडित प्रेमाचार्य की शंकाओं का समाधान किया।

उपर्युक्त शास्त्रार्थ महारथियों के अतिरिक्त पण्डित तुलसीराम स्वामी, महामहोपाध्याय पं0 आर्यमुनि, पं0 धर्म भिक्षु, पं0 मुरारीलाल शर्मा, पं0 भोजदत्त शर्मा आर्य मुसाफिर, पं0 मनसाराम शास्त्री 'वैदिक तोप' सम्पादकाचार्य पं0 रुद्रदत्त शर्मा, पं0 देवेन्द्र नाथ शास्त्री सांख्यतीर्थ, पं0 बस्तीराम, पं0 ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं0 भागवद्दत्त बी0ए0, काव्यतीर्थ पं0 बिहारी लाल शास्त्री, पं0 युधिष्ठिर मीमासक

आदि ने भी समय-समय पर विभिन्न मतमतान्तरों के विद्वानों से अनेकों शास्त्रार्थ किये तथा शास्त्रार्थ महारथी के रूप में प्रचुर ख्याति अर्जित की।

महर्षि दयानन्द सरस्वती से आरम्भ हुई आर्यसमाज की यह शास्त्रार्थ-परम्परा अब लुप्तप्राय होती जा रही है। इसका कारण है इस परम्परा को आगे बढ़ाने वाले स्वाध्यायशील एवं अकाट्य तर्कों से प्रतिपक्षी को ध्वस्त करने में सक्षम तथा खंडन-मंडन में पारंगत विद्वानों की न्यूनता। वेदों में पारंगत उद्भट विद्वान् लेखक, प्रवचनकर्ता एवं उपदेशक तो अभी आर्यसमाज में उपलब्ध हैं, उपदेशक विद्यालयों में प्रशिक्षण द्वारा नये-नये उपदेशक/ पुरोहित तैयार करने के श्लाघनीय प्रयास भी किये जा रहे हैं, परन्तु शास्त्रार्थ-विधा की ओर किसी का ध्यान नहीं हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है। आर्यसमाज की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली, प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं, उपदेशक विद्यालयों एवं गुरुकुलों को समन्वयवाही दृष्टिकोण का मोह त्याग कर इस दिशा में सक्रिय होना चाहिए।

डॉ० विनोद चन्द्र विद्यालंकार
-४६२, आर्यनगर, ज्वालापुर-२४९४०७

जीव्यात् चिरं भारतवर्ष राष्ट्रम्
(उपजातिवृत्तम्)

(1)

प्राप्तं प्रतिष्ठं जगद्गुरुत्वं ज्ञानेन दानेन पराक्रमेण।
जेगीयते यस्य यशोहि शुभ्रं जीव्यात् जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(2)

प्रबोधितं येन जगत्प्रसुप्तं परेशविद्याऽऽगम भास्करेण।
आविष्कृतं वै गणनायं शून्यं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(3)

निसर्गरम्यं भुवनाभिरामं यशो हिमै शुभ्र विशाल भालम्।
नदीनदै कल्पित तारहारं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(4)

धन्यं प्रवर्षं धरणीप्रधानं पुण्यै पवित्रं तपसां निधानम्।
हर्षं प्रकर्षं ललितं निकामं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(5)

वेदैश्च लोकैश्च समानसेव्यं देवै मनुष्यैश्च समान पूज्यम्।
भूतैश्च भव्यैश्च समानदृश्यं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(6)

पञ्जाब विन्ध्यांचल झारखण्डं विहार सौराष्ट्रदशार्णबङ्गम्।
दधाति दिल्लीप्रमुखं प्रवर्षं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(7)

कणादकुत्सः कपिलो वसिष्ठः भौमो भरद्वाज-अगस्त्यमुख्याः।
बभूवु यस्यैव हृदयावतंसा जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(8)

धन्या रघुर्कर्णदधीचवर्याः सदाप्रजापालनकर्मदक्षाः।
यज्ञेन दानेन तपोव्रतेन जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(9)

श्रीराम कृष्णार्जुन विक्रमेण पुरोर्प्रतापस्य पराक्रमेण।
ख्यातं महाभारत गौरवेण जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(10)

परं समृद्धं हि सुशासनेन समुद्रगुप्तेन च विक्रमेण।
नयेन दानेन च वैभवेन जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(11)

मन्त्राम्भसायज्ञ पवित्रभूतं यमेन उग्रं विभवै समग्रम्।
विद्यानिधानं समताप्रधानं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(12)

कण्वाङ्गिरस्भार्गव यज्ञक्षेत्रं सीताऽनुसूया तपसिद्वभूमिः।
तपोवनं त्वेतत् कौशिकानां जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रत्।।

(13)

पार्थाधिपानां कुरुक्षेत्रमेतत् राणा शिवानां शिवयुद्धभूमिः।
क्रीडागृहं वै भरतस्य एव जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(14)

प्रभुत्वपूर्णं जनतन्त्रदीपं सौम्यत्व-बन्धुत्व-ममत्वभूतम्।
विभाति दिव्यं सुरलोकरूपं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(15)

श्रद्धास्पदंभक्ति विभूतिभूतं पूज्यं परं प्रेमनुतं विशेषम्।
सर्वाभिप्रतं किल शान्तिदूतं जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(16)

शूरा श्रुतिज्ञा व्रतिनो युवानः वृद्धा प्रसिद्धा विबुधा विदग्धाः।
यजन्ति रक्षन्ति च नित्यमेव जीव्यात् चिरं भारतवर्षराष्ट्रम्।।

(रचना- १४.४.२००४)

डॉ० राधेश्याम गंगवार
प्रवक्ता, संस्कृविभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
पिथौरागढ़ २६२५०१

वैदिक संस्कृति में पुनर्जन्म की अवधारणा

वैदिकधर्म में पुनर्जन्म सिद्धान्त का प्रधान स्थान है। वेद-वेदाङ्ग, दर्शन, स्मृति, पुराणादिसर्वत्र इसे देखा जा सकता है। पुनर्जन्म से तात्पर्य है- एक शरीर का त्याग करके दुबारा जन्म लेना। अनेक कारण होने पर भी प्रधानतः अपने शुभाशुभ कर्मों की वासना ही पुनर्जन्म का मुख्य कारण है। अर्थात् पुनर्जन्म का अर्थ है- नया जीवन 'जननमिति जन्म' पैदा होने का नाम जन्म है। 'जनी प्रादुर्भावे धातु से 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' से औणादिक मनिन् प्रत्यय होने पर 'जन्म' शब्द बनता है। इसी के पर्यायवाचक 'जनुः जननं, जनिः उत्पत्तिः उद्भवः ये प्रसिद्ध है। पुनः जन्म पुनर्जन्म। 'सह सुपा' से समास है।' इसके अन्य नाम-पुनर्जन्म, गतजन्म, पुनर्भव, परलोक इत्यादि है। जहाँ जीवन नहीं है वहाँ निर्वाण, मुक्ति या मोक्ष है। मोक्ष में पुनर्जन्म का कारण नहीं है इसलिये मोक्षोपरान्त पुनर्जन्म की अवधारणा भी नहीं है। कार्य का निर्माण कारण पर आधारित है पुनर्जन्म का कारण है-कर्म।

वेदों में जीव के तीन जन्म स्वीकार किए गए हैं-प्रथमतः, शिशु के रूप में, द्वितीयतः आध्यात्मिक शिक्षा की प्राप्ति के द्वारा और तृतीयतः मृत्यु के अनन्तर आत्मा को जीवनचक्र से सम्बद्ध माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रारंभिक रूप दिखाई पड़ता है। इसके अनुसार जो अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित रूप से करते हैं तथा जिन्हें सम्यक् ज्ञान है- मृत्यु के उपरांत अमरत्व (मोक्ष) प्राप्ति के लिए उनका पुनर्जन्म होता है। इसके विपरीत जो अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करते हैं अर्थात् जो अज्ञानी है। उन्हें मृत्यु का शिकार बनने के लिए बार-बार जन्म ग्रहण करना पडता है।

उपनिषदों में पुनर्जन्म का अस्तित्व इहलोक में माना गया है। अच्छे एवं बुरे कर्मों का प्रतिफल दो रूपों में प्राप्त होता है- (1) परलोक में और (2) पुनः इस पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करने पर। ब्रह्म से ऐक्य की अवस्था उत्तर प्रकार का अमरत्व है। जब हम इस अवस्था से च्युत होते हैं तब संसार में एक जन्म से दूसरे जन्म में भटकने लगते हैं। इस जीवन में किए गए कर्मों के अनुसार हमारा अगला जन्म निर्धारित होता है। आत्मा अपने कृत्तकर्मों के फल भुगतने के लिए मृत्यु के पश्चात् दो मार्गों से पार हो सकती है-

1. देवयान मार्ग (प्रकाश मार्ग)
2. पितृयान मार्ग (धूम मार्ग अर्थात् तमः मार्ग)

प्रथम मार्ग अग्नि आदि विभिन्न लोकों से होकर ब्रह्म या सत्य लोकों को जाता है जहाँ से पुनरावर्त्तन नहीं होता। पितृयान धूमरात्रि आदि विभिन्न लोकों से होते हुए चन्द्रलोक को ले जाता है जहाँ से अपने सुकर्मों का फल भोगने के उपरान्त जीव को पुनः इस संसार में आना पड़ता है।

> "अग्निर्ज्योरहः शुक्लः षणमासा उत्तरायणम्।
> तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।
> धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षणमासा दक्षिणायनम्।
> तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्यनिवर्तते।।
> शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
> एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।[2]

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्रि अभिमानी देवता है, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उन मार्गों में मरकर गए हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले जाये जाकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं तथा जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गया हुआ सकाम कर्म करने वाला योगी उपर्यक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले गया हुआ चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर स्वर्ग में अपने शुभकर्मों का फल भोगकर वापस आता है क्योंकि जगत् के ये दो प्रकार के शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एक के द्वारा गया हुआ- जिससे वापस लौटना नहीं पड़ता उस परम गति को प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म मृत्यु को प्राप्त होता है एक तीसरे आनंद- विहीन तिमिराछन्न लोक को ले जाने वाले मार्ग का भी निर्देश है-

"पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥[3]

अर्थात् जो (अंतिम बार) जल पी चुकी है, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनकादूध भी दुह लिया गया है और जिनमें प्रजनन शक्ति का भी अभाव हो गया है उन गौओं का दान देने वाला आनन्द लोक को जाता है। यह वह मार्ग है जहाँ जीव कीट, पतंग आदि निकृष्ट योनियों में गुजरता हुआ जन्म-मृत्यु का शिकार होता है।

"ते कीटाः यदिदं दन्दशूकम्।[4]

जीव सब प्रकार के अनुभवों से ज्ञानी बने। ये अनुभव और ज्ञान पूर्णरूप से प्राप्त करने के लिए अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। यही पुनर्जन्म का प्रयोजन है।

पुनर्जन्म हिन्दू संस्कृति के तत्वज्ञान का एक मौलिक सिद्धान्त है। शरीर की मृत्यु के साथ शरीरगत आत्मा की मृत्यु न होकर वह आत्मा उस देह में प्राप्त संस्कारों के साथ दूसरे देह में चली जाती है, इसी को 'पुनर्जन्म' कहते हैं। "जायते पुनः" शब्द बहुत ही स्पष्ट रूप से पुनर्जन्म की घोषणा करते हैं। पुनर्जन्म का आधार कर्म है। पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए ही पुनर्जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म के पश्चात् किसी भी योनि में आ जा सकता है। जड़ भरत जैसे महासिद्ध योगी को भी कर्मवशात् हिरण का जन्म लेना पड़ा। फिर कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य जन्म प्राप्त होने के बाद जीव अन्य किसी योनि में नहीं आता? शास्त्रों में ऐसे हजारों उदाहरण है। मनुष्य योनि तो क्या साक्षात् इन्द्र का पद प्राप्त होने पर भी नहुष को सर्प बनना पड़ा। "पक्षियों में जो स्वतंत्रता होती है, वह मनुष्यों में नहीं देखी जाती । किसी के पास एक वस्तु है तो दूसरी नहीं यह जो माया का विचित्र खेल है, इससे जीव अनुभव प्राप्त करते -करते परमोच्च ध्येय को प्राप्त हो, यह एक जन्म में सधने वाली बात नहीं है। एक जन्म में देहात्मा का

पूर्ण विकास होने के लिए कई वर्ष लगते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा के पूर्ण विकास के लिए अनेक पुनर्जन्म आवश्यक होते हैं। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की पूर्णता प्राप्त करने की अन्तः स्फूर्त तृष्णा जीव में ही होती है। ब्रह्म के सिवा इस जगत् में और कुछ नहीं है फिर भी अज्ञान दशा में स्थूल, सूक्ष्म शरीर और उनके स्थूल, सूक्ष्म लोक व्यवहार बन्धवत् प्रतीत होते हैं। यह अज्ञान दूर हो इसके लिए बार-बार इनका अनुभव प्राप्त कर, इन्हें आत्मसात करके सहजावस्था में आ जाने के लिए इहलोक में यथावश्यक पुनर्जन्म ग्रहण कर कर्म, उपासना, ज्ञान आदि योग साधना करना आवश्यक होता है। पुनर्जन्म का यह एक व्यापक कारण है।[5] पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सकता है कि उसका सुख-दुःख, श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व, सद्गुणों का अभाव आदि सब उसी के पूर्वजन्मों में किये हुए कर्मों के परिणाम है और इस जन्म में यदि वह अपने कर्मों में सुधार कर ले तो इसी जन्म में वह अधिक श्रेष्ठ एवं सुखी बन सकता है। उसे यह भी विश्वास होता है कि जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष, इस एक जन्म में न भी प्राप्त हो तो भी उसके लिए उचित प्रयत्नों में रत रहने से आने वाले जन्मों में वह अपने को मोक्ष के लिए अधिकाधिक योग्य बनाकर, अन्त में जीवन-मरण के सब सुख-दुखों से छूटकर अपनी नित्य, शुद्ध, मुक्त सच्चिदानंद स्थिति में स्थिर हो सकता है, धन्य हो सकता है। जीवात्मा के अनन्तान्त पुनर्जन्मों का अन्तर्भाव पाँच पुनर्जन्मों में हो जाता है। उनके नामों और स्वरूपों का निर्देश इस प्रकार है-

(1) शुक्र में जन्म (2) शोणित में जन्म, (3) भूमि में जन्म, (4) संस्कारों में जन्म, (5) परलोक में जन्म। कर्मात्मा की अन्न के द्वारा शुक्र में प्रतिष्ठा प्रथम जन्म है। शुक्र के द्वारा शोणित रज में प्रतिष्ठा द्वितीय जन्म है। गर्भाशय से भूमि में प्रतिष्ठा तृतीय जन्म है। संस्कारों से दिव्य-भाव में प्रतिष्ठा चतुर्थ जन्म है। अग्नि के द्वारा परलोक में प्रतिष्ठा पञ्चम जन्म है।[6] पुनर्जन्म का प्रयोग सब उपनिषदों की सारभूत भगवद् गीता में मिलता है-

"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।"[7]

गत जन्म का प्रयोग भी गीता में है-

"अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।[8]

अर्जुन ने पूछा- रात जन्म में आपेन यह अव्यय योग विवरस्वाम् को कहा था, यह मैं कैसे जानूँ? इस पर भगवान ने कहा-

"बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।"

श्री भगवान बोले-हे पनरंतुप श्अर्जुन मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबकों तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ।

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'[9]

अर्थात् तेरे और मेरे बहुत जन्म हो चुके हैं मेरा जन्म दिव्य हुआ करता है। पुनर्जन्म का अन्य नाम पुनर्भव है। जैसा कि श्रीमद्‌भगवत्‌गीता में प्राप्त है-

"क्षणार्धेनापि तुल्ये न स्वर्गं नापुनर्भवम्"

यहाँ अनूपनर्भव मुक्ति का नाम है।[१०]

पुनर्जन्म का अन्य नाम परलोक भी है। इससे भी पुनर्जन्म के विषय में प्रकाश पड़ता है। 'परलोक" शब्द उपनिषद् में भी मिलता है।-

न साम्परायः प्रतिभाति बाले
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥"

इस प्रकार मनुष्य जीवन के महत्व को नहीं समझने वाला अभिमानीमनुष्य सांसारिक भोग-सम्पत्ति की प्राप्ति के साधनरूप धनादि के मोह से मोहित हुआ रहता है। अतएव भोगों में आसक्त होकर वह प्रमोद पूर्वक मनमाना आचरण करने लगता है। उसे परलोक नहीं सूझता। उसके अन्तः करण में इस प्रकार के विचार उत्पन्न ही नहीं होते कि मरने के बाद मुझे अपने समस्त कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य होकर बारंबार विविध योनियों में जन्म लेना पड़ेगा। अज्ञानी मनुष्य समझता है कि, बस, जो कुछ यहाँ जितना विषय- सुख भोग लिया जाए, उतनी ही बुद्धिमानी है। इसके आगे क्या है। परलोक को किसने देखा है। परलोक तो लोगों की कल्पना मात्र है इत्यादि। इस प्रकार की मान्यता रखने वाला मनुष्य बारम्बार यमराज के चंगुल में पड़ता है और वे उसके कर्मानुसार उसे नाना योनियों में ढकेलते रहते हैं। उसके जन्म-मरण का चक्र नहीं छूटता।

यद्यपि 'परलोक' इसके भिन्न स्वर्ग आदि लोकों का नाम है तथापि परलोक शब्द भी पुनर्जन्म को सिद्ध करता है, क्योंकि मरकर पुनर्जन्म केवल मनुष्य लोक में हो ऐसा नहीं है। किन्तु स्वर्ग आदि अन्य लोको ं में भी हुआ करता है यह इससे सूचित होता है।

इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म केवल मनुष्य योनि में ही नहीं होता, किन्तु पशु योनि में भी होता है, पक्षी योनि में भी होता है, कीट पतंगादि योनियों में भी होता है तथा देव-गन्धर्वादि योनियों में भी होता है। उसमें पशु-पक्षी, कीट-पतंग मनुष्य लोक में होते हैं और स्थूल शरीर होते हैं, देव, गन्धर्व आदि स्वर्गादि लोकों में होते हैं। वे वहां सूक्ष्मकाय भी होते हैं और काम रूप भी होते हैं अतः परलोक शब्द से भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती हें उसमें कारण यह है कि यदि पुरुष यही होकर यहीं मर जाता तब तो पुनर्जन्म का कोई प्रसंग ही नहीं था, पर चूँकि शास्त्रों में मृतक को परलोक में जाना कहा गया है तब इससे सिद्ध हुआ कि इस लोक में स्थित होकर सब वह परलोक में गया है, यह भी पुनर्जन्म है। गीता में भगवान् अर्जुन से कहते हैं-

वासांसि जीर्णानि यथा विहायनवानिगृह्णाति नरोऽपराणि॥

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

अर्थात्- जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है कि आत्मा शरीर की अपेक्षा एक स्थायी तत्व है। जो एक अस्थायी आवास से दूसरे अस्थायी आवास में अपना स्थानांतरण करता हर हता है। आत्मा के नए चोले का निर्णय पूर्वजन्मों में किए गए कर्मो के परिणामों पर ही आधारित होता है।

इसी प्रकार जब बालक इस धारती पर जन्म लेता है तो वह जन्म लेते ही रोने लगता है। और जन्म लेने के पश्चात् कभी रोता है, कभी हंसता है, कभी सोता है। जब उसमें से दूध खींचने लगता है और धमकाने आदि पर भय से काँपता हुआ भी देखा जाता है। बालक के ये सब आचरण पूनर्जन्म को सूचित करते हैं क्योंकि इस जन्म में तो उसने ये सब बातें सीखी ही नहीं। पूर्वजन्म के अभ्यास से ही सब बातें उसके अन्दर स्वाभाविक रूप से होने लगती हैं। पूर्वजन्म में अनुभव किये हुए मृत्यु भय के कारण ही वह काँपने लगता है तथा पूर्व जन्म में किए हुए स्तनपान के अभ्यास से ही वह माता के स्तन का दूध खींचने लगता है। इससे भी पूनर्जन्म सिद्ध होता है। पुनर्जन्म केवल कर्मयोगी मनुष्यों में ही नहीं होता, बल्कि भोगयोनि, पशु-पक्षी आदि में भी जन्म होता है, वह भी यही लोक है।

जीव को जन्म-जन्म में पुण्य-पाप के कारण सुख-दु:ख की प्राप्ति होती है। अत्यंत पुण्य से स्वर्ग, अत्यन्त पाप से नरक प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य-पाप दोनों की समानता हो, तो जीव मनुष्य लोक में जन्म लेता है। स्वर्ग-नरक में तो शरीर की पृथ्वी प्रधानता नहीं थी, पर पृथ्वी लोक में पृथ्वी-प्रधान होने से स्थूल शरीर होता है। पुण्य-पाप दोनों के न रहने से जीव की मुक्ति हो जाती है। उसमें संकल्पमय शरीर माना जाता है। तथा कर्मों के अभाव से पुनर्जन्म की समाप्ति हो जाती है। आशा का संचार होता है और निरन्तर कर्मयोगी की भान्ति कर्म करता रहता है। जैसे कर्म करता है वैसे-वैसे ही उसके संस्कार बनते हैं और उन्हीं संस्कारों के अनुसार मनुष्य को आगामी शरीर प्राप्त होता है। वेद कहता है-

"ये अर्वाञ्चखाँ उ पराच आदुर्य पराञ्चस्ताँ उ अर्गच आहुः।
इन्द्रक्ष या चक्रयुः सोम तानि धुरा न युक्ता राजसो वहन्ति॥"

अर्थात् जोनीचे थे, वे ऊपर पहुँच जाते हैं, और जो ऊपर थे वे नीचे आ जाते हैं। इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा जिन कर्मों को करता है वे धुरी की भांति युक्त होकर इसे लोक लोकान्तरों में एक योनि से दूसरी योनि में ले जाते हैं। इसी प्रकार-

"य ईं चकार न सो अस्यवेद य ह ददर्शहिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतोऽन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥

अर्थात्- जननी के गर्भ में झिल्ली और अज्ञान से ढंका हुआ जीवात्माजिन अनेक जन्म ध

ारण करता है। यह बहुप्तजा अनेक जन्मों तथा संततियोवाला बनता है और घोर से घोर दुर्गति में पड़ता है। इस दुर्दशा में यह जो कुछ करता है, उसे स्वयं भी नहीं जानता है और जो कुछ देखता है वह भी इससे छिपा हुआ ही रहता है। उदात्त आत्मा का यह कैसा अध:पतन है।

पुनर्जन्म के कारण ही आत्मा का शरीर, इन्द्रियों तथा विषयों से सम्बन्ध जुड़ता रहता है और आत्मनो भोगायतनं शरीरम् न्याय से उस जीव को सुख-दु:ख के भोगों के लिए बार-बार एक शरीर से दूसरे में भटकना पड़ता है। हमारे उपनिषद् भी पुनर्जन्म तथा परलोक के बारे में एक मत हैं। कठोपनिषद में यम तथा नचिकेता का अन्यान्य प्रश्नों का संवाद इसी ओर इंगित करता है। मनुष्य अपने कर्मानुसार स्वर्ग (परलोक) की प्राप्ति करता है। नचिकेता स्वर्ग की समृद्धि का वर्णन करते हुए कहता है कि स्वर्ग लोक में कोई मरा नहीं है वहाँ न तो मृत्यु है और न कोई वृद्धावस्था से डरता है। भूख-प्यास दोनों से रहित होकर तथा शोक रहित हुआ व्यक्ति प्रसन्न हो जाता है। अथर्ववेद तो ऐसे मन्त्रों से परिपूर्ण है जिनसे पुनर्जन्म की समस्या पर किसी न किसी रूप में प्रकाश पड़ता है। कहीं अगले जन्म में विशिष्ट वस्तुएं पाने के लिए प्रार्थना है कहीं स्पष्ट कहा गया है कि पूर्वजन्म के अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा नवीन योनियों में शरीर धारण करता है। कर्मानुसार पशु-योनि में जन्म लेने का भी उल्लेख इन मन्त्रों में पाया जाता है। ऋग्वेद के इन मन्त्रों से भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती हैं-

"पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवंव्रातंसचेमहि"[१६]

अर्थात् मैं पुन: पुन: माता-पिता को प्राप्त करूँ, दिव्यजन होकर जीव के विग्रह को प्राप्त करूँ।

आत्मा का सच्चा स्वरूप वह नहीं है जो बन्धन में पड़े हुए आत्मा का देखा जाता है। आत्मा का सच्चा स्वरूप सच्चिदानन्द है। वह परमात्मा का ही एक स्वरूप है। जिस प्रकार एक चिंगारी अग्नि का अंश है और वह चिंगारी भी अग्नि के समस्त गुणों को सूक्ष्म रूप में समेटे रहती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी परमात्मा का एक स्वरूप होने के कारण परमात्मा के सभी गुणों को अपने में समेटे रहता है। गीता में भी भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि-

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

अर्थात्-मेरा ही अंश इस मर्त्यलोक में जीव के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पर इस जीवात्मा में जो शक्ति है जिसके लिए वेद में 'स्वधा' शब्द आया है, वह शाक्ति ही उसके सच्चे स्वरूप को ढ़क देती है और उस स्वधाशक्ति से प्रभावित होकर यह आत्मा अपने को बंधन में समझने लगता है। इसी को यजुर्वेद के मन्त्र में इस प्रकार से कहा गया है-

"हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।"

अर्थात्- सोने के पात्र से सत्य ढका हुआ है। चमक-दमक वाली माया जीवात्मा के सच्चे स्वरूप को ढंक देती है उस अवस्था में वह आत्मा अपनी शक्तियों से युक्त होकर मर्त्य शरीर को अपना स्थान बनाकर एक शरीर से दूसरे शरीर में विचरता है, यही इसका 'पुनर्जन्म' है।

जीवात्मा अजर अमर अविनाशी है। उसे अपने अनादि कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। जिसके फलस्वरूप वह शुभ तथा अशुभ कर्मों के फलों को भोगता है और पूर्व संस्कारों के अनुसार कर्म करता रहता है। समय पाकर उनकावियोग हो जाता है। इस प्रकार जब तक जीवों के कर्म एवं उनके संस्कार बने रहते हैं, तब तक जन्म-मरण रूपी संसृत्ति चक्र चलता है। उन कर्मों के क्षय ये ज्ञान एवं प्रभु की पराभक्ति से मोक्ष हो सकता है। पराभक्ति द्वारा प्रभु का साक्षात्कार होने पर कर्मों से निवृत्ति एवं मुक्ति हो जाती है फिर पुनर्जन्म नहीं होता, यही भगवान् का कथन है-

"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते"

इस जन्म में कर्म करता हुआ मनुष्य थक सा जाता है। यदि पुनर्जन्म न होता तो जीव कर्मों के भार से थकित होकर हीनता का अनुभव करने लगाता। उस अवस्था में जीव के सामने घोर निराशा छा जाती। किन्तु पुनर्जन्म होने से जीव इस आशा में रहता है कि हमें शुभ कर्मानुसार पुनः सुखोपभोग का अवसर मिलेगा और उसमे आशा का सञ्चार रहता है और निरंतर कर्मयोगी की भान्ति कर्म करता रहता है।

डॉ० (श्रीमती) मंजू सिंह ठाकुर
सहायक प्राध्यापिका
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर

संदर्भ-सूची

1. कल्याण: परलोक एवं पुनर्जन्म विशेषांक, वर्ष 43, पृ. 160
2. श्रीमद्भगवद्गीता: 8/24-25-26, गीता प्रेस, गोरखपुर
3. कठोपनिषद्: 1/1/3, गीता प्रेस, गोरखपुर
4. वृहदारण्यक उपनिषद् : 6/2/16, गीता प्रेस, गोरखपुर
5. कठोपनिषद् : 1/1/3,
6. कल्याण : तैतालींसवे वर्ष का विशेषांक, पृ. 79
7. श्रीमद्भगवद्गीता :8/16
8. वही: 4/4
9. वही: 4/5
10. वही: 4/9
11. वही: 4/24-57
12. वही: 2/13
13. ऋग्वेद : 1/164/19, गीता प्रेस, गोरखपुर
14. ऋग्वेद : 1/164/30,
15. ऋग्वेद : 12/38,
16. ऋग्वेद : 11/4/20,
17. श्रीमद्भगवदगीता : 8/16
18. वही: 8/16

मृदा प्रदूषणः वैदिक समाधान

मृदा भू-पपड़ी का वह भाग है जिसमें कार्बनिक पदार्थ विद्यमान होते हैं तथा जिसमें पौधे उगते हैं।[1] मृदा ही पेड़-पौधों को आवश्यक खाद्य सामग्री उपलब्ध कराती है जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मनुष्य एवं जीव-जन्तु ग्रहण करते हैं।

मृदा के भौतिक, रासायनिक और जैविक गुणों में ऐसा कोई भी अवांछित परिवर्तन जिसका दुष्प्रभाव मनुष्य, पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं पर पड़े अथवा जिससे भूमि की प्राकृतिक गुणवत्ता तथा उपयोगिता नष्ट हो मृदा प्रदूषण कहलाता है।

मृदा उस विराट् पर्यावरण (environment) का अंग है जिस पर समस्त प्रकार का प्रदूषण हो रहा है। चाहे वायु प्रदूषण हो या जल प्रदूषण इन सब में मृदा भी सहभागिनी है। इसलिए मृदा धीरे-धीरे जल या वायु की अपेक्षा प्रदूषण की सम्भावना से अधिक संत्रस्त है।

मृदा का प्रदूषण वायु प्रदूषण या जल प्रदूषण से इस बात में भिन्न है कि वह स्थानिक है जबकि वायु या जल प्रदूषण सार्वभौम है।

सामान्यतः मृदा प्रदूषण छः कारणों से होता है-

(1) वायुमण्डल से प्राप्त प्रदूषक तथा अम्ल वर्षा।

(2) औद्योगिक अपशिष्ट तथा धात्विक कणीय पदार्थ-सीसा, पारा व कैडमियम आदि।

(3) कृषि अपशिष्ट और अन्य कूड़ा-करकट।

(4) भूमिगत लवण

(5) उर्वरकों और जीवनाशी रसायनों का प्रयोग।

(6) ऊष्मीय (thermal) प्रदूषण और नाभिकीय (nuclear) प्रदूषण।

मिट्टी अपने प्रदूषण को स्वयं तक सीमित न रखकर वनस्पतियों में स्थानान्तरित करती है और वनस्पतियाँ आहार चक्र द्वारा अन्य प्राणियों सहित मनुष्यों में।

प्रदूषित मृदा प्राणियों को हानि पहुँचाती है यह धनात्मक प्रदूषण (Positive pollution) है। लेकिन इससे भी भयावह प्रदूषण वह है जिसमें स्थलाकृति में रद्दोबदल होता है। यह किसी साधन-स्रोत के अत्यधिक उपभोग या निष्कासन से होता है। इसे ऋणात्मक प्रदूषण (Negative pollution) कहते हैं। भूमि क्षरण (Soilerosion) ऐसा ही मृदा प्रदूषण है जो अत्यधिक पशुचारण एवं वनस्पति के विनाश से उत्पन्न होता है। मरुस्थलों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण ऋणात्मक प्रदूषण है।

घरेलू तथा औद्योगिक अपशिष्ट जो मृदा में फेंक दी जाती है। तृतीय प्रदूषण (Third pollution) है। इन अपशिष्टों में डिटरजेंट, बोरेट, फास्फेट तथा अन्य लवण इतनी मात्रा में रहते हैं कि मिट्टी में पहुँचने पर वे मिट्टी की उर्वरता पर दुष्प्रभाव डालते हैं।

मृदा प्रदूषण से बचने या कम करने के लिए उर्वरकों, जीवनाशी रसायनों का नियंत्रित उपयोग, औद्योगिक अपशिष्टों का शोधन, कूड़े-करकट का समुचित निपटान आदि उपाय हैं।

इन सब उपायों के बावजूद आज मृदा प्रदूषण की समस्या गंभीर होती जा रही है।

समस्या के समाधान के लिए व्यक्ति के मानसिक चिंतन व दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक है। इसके लिए हमें वैदिक दृष्टिकोण से चिंतन मनन करना होगा।

वेदों का मन्तव्य है कि मानव प्रकृति की मर्यादा में रहकर ही प्रगति कर सकता है। "रक्षया प्रकृतिः पातु लोकाः"[1] उक्ति मनुष्य को सदैव याद रखनी होगी। ऋषियों ने समस्त प्रकृति को नमन किया है[2], जिसमें प्रकृति संरक्षण के भाव भी निहित हैं।

वेदों में पृथिवी को माता कहा गया है[3], जिसका गूढ़ार्थ है कि माता तुल्य पृथिवी का आदर किया जाए तथा उसे प्रदूषण मुक्त रखा जाए।

जल में कमल पत्र तुल्य पृथिवी मूलतः स्वच्छ एवं प्रदूषण रहित है[4], वह शान्तिदायिनी, सुगन्धदायिनी, सुखदायिनी, अमृतदायी पदार्थों वाली और दुग्धादि पदार्थों वाली है[5]। यह विश्वम्भरा, धन की खान, प्रतिष्ठा, हिरण्यवक्षा और जगत् को अपने ऊपर बसाने वाली है[6]।

अथर्ववेद में पृथिवी की उपमा धेनु से दी गयी है। धेनु के समान यदि पृथिवी का पालन और संरक्षण किया जाए तो वह उत्तम आयु, संतान, पुष्टि और धन प्रदान करेगी[7]। भूमि माता तुल्य, अन्तरिक्ष भ्राता तुल्य व द्युलोक पिता तुल्य है क्योंकि वे विपत्ति से बचाते हैं तथा मानव का दायित्व है कि वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे उसके इन बन्धुओं को हानि हो[8]।

भूमि में प्राण, रक्त और आत्मा विद्यमान है-भूम्यां असुरसृगात्मा क्वस्वित्[9]। इस प्रकार पृथिवी मानव सदृश है उसे हिंसित, पीड़ित या प्रदूषित करना पृथ्वी पर भारी अपराध है। यजुर्वेद ने निर्देश दिया है- पृथ्वी मातर्मा हिंसी मा अहंत्वाम्[10]।

वेद मानव को प्रेरित करता है कि तू उत्कृष्ट खाद आदि के द्वारा भूमि को पोषक तत्त्व प्रदान कर, भूमि को दृढ़ कर, भूमि की हिंसा मत कर-पृथिवीं यच्छ पृथिवीं हंह पृथिवीं मा हिंसीः[11]। पृथिवी की हिंसा का अभिप्राय है कि लगातार फसलों द्वारा मृदा को पोषक तत्त्व विहीन करना तथा कीटनाशक दवाओं के अनुचित प्रयोग से उद्योगों के ठोस तथा जलीय दूषित पदार्थों की निकासी से और घरेलू अपशिष्ट पदार्थों के अनियंत्रित विसर्जन से मृदा को प्रदूषित करना।

वेद कहता है कि पृथिवी की गोद अर्थात् उसका धरातल एवं अन्दर के अवयव हमारे लिए कीटाणुयुक्त तथा रोगोत्पादक न रहें-उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः[12]।

इसका अभिप्राय यह है कि हम अपशिष्ट पदार्थों आदि के द्वारा मृदा को प्रदूषित न करें।

रत्नगर्भा भूमि के गर्भ में सोना, चांदी, लोहा और हीरा आदि पदार्थ प्रचुर मात्रा में हैं। उनका अधिकाधिक दोहन मृदा प्रदूषण का कारण बना है। अथर्ववेद में हिरण्यवक्षा भूमि को प्रणाम करके उसका अधिक दोहन न करने का संकेत है-

शिला भूतिरश्मा पांसुःसा भूमि संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।।[13]

जो पृथिवी को क्षीण करते हैं अथवा प्रदूषित करते हैं, उन्हें पृथिवीं उसी प्रकार दण्डित करती है जिस प्रकार अश्व धूल को झाड़कर फेंक देता है[14]। अतएव मानव के हित में अथर्ववेद ने निर्देश दिया है कि यदि हम भूमि को खनन आदि कार्यों के लिए खोदें तो उसकी क्षतिपूर्ति करें। उसकी

रोहण क्षमता नष्ट न करें[15]।

पृथ्वी के प्रदूषण रहित एवं उर्वर होने पर ही मानव पूर्णायु प्राप्त कर सकता है अतः यज्ञ और हव्य पदार्थों द्वारा भूमि को प्रदूषण मुक्त और उर्वर बनाने का प्रयास वेदों में प्राप्त होता है[16]।

वन वायु प्रदूषण को दूर करके मृदा प्रदूषण को रोकते हैं। तैत्तिरीय संहिता में वनस्पति को देव कहा गया है और उससे ऊपर से रक्षा की प्रार्थना की गयी है[17]। मैत्रायणी संहिता (1. 8 .9) और काठक संहिता (6. 6) में औषधियों को पवित्र करने वाली कहा गया है-"औषधयः पावकाः"। शतपथ ब्राह्मण[18] में "जगत्यः औषधयः" कहा गया है जिसका भाव है जगत् हित कारिणी। मैत्रायणी संहिता[19] में वनस्पति को वायु का रक्षक बताया गया है।

वन मृदा अपरदन को रोककर पृथ्वी की रक्षा करते हैं तथा पदार्थों को भी हितकारी द्रव्य के रूप में परिणत कर देते हैं। वेदों में वनों की महिमा को स्वीकार किया गया[20] तथा वनों को सुखदायी माना-अरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु[21]। वृक्ष व वनस्पतियाँ भूमि को समुन्नत तथा उर्वर बनाती हैं अतः ऐसी भूमि सबका भरण-पोषण कर सकती है[22]। मृदा प्रदूषण को दूर करने में पेड़-पौधों के महत्त्व को आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है[23,24] अथर्ववेद ने कठोर शब्दों में कहा है कि जो औषधियों-वनस्पतियों को मारकर पृथ्वी को सताता है उन्हें पृथ्वी हिला देती है, पीड़ित करती है, नष्ट कर देती है[25]।

मृदा प्रदूषण को रोकने का वैदिक समाधान यह भी है कि भूमि पर विद्यमान वनसंपदा के साथ प्राणी जगत् की भी रक्षा की जाए। रासायनिक उर्वरकों व कीट नाशियों की अपेक्षा पशु-पक्षी व कीट भूमि की उर्वरता को बढ़ाने में अधिक सक्षम हैं। ऋग्वेद के अरण्यानी सूक्त में तथा अथर्ववेद[26] में सर्पादि जीव-जन्तुओं, मृग, सिंह आदि पशुओं और कीटों के संरक्षण व पालन पर बल दिया गया है। वनों की रक्षा वास्तव में मनुष्य नहीं करता है, वह तो उसका विनाश और उपभोग ही करता है। इसका श्रेय तो वन्य जीवों को ही जाता है[27]। अथर्ववेद के अनुसार मनुष्यों को खा जाने वाले इन वन्य पशुओं के कारण मनुष्य इन वनों से दूर ही रहते है[28]। परिणामस्वरूप वन अपने स्वाभाविक रूप में विकसित होते हैं।

मृदा प्रदूषण को दूर करने तथा मृदा को उर्वर बनाने में गायों के गोबर व मूत्र का महत्वपूर्ण योगदान होता है अतः वेदों में गौ संरक्षण पर विषेष बल दिया गया है[29]।

अथर्ववेद के अनुसार-सदा जागरूक रहते हुए देवता और राष्ट्र के नेता सब पदार्थों को प्रदान करने वाली इस पृथ्वी की प्रमाद रहित होकर रक्षा करते हैं, तब यह पृथ्वी हमारे लिए मधुर प्रिय पदार्थों का दोहन करती है और हमें तेज तथा ऐश्वर्य से सींचती है[30]। ऋषि प्रार्थना करता है कि, हे पृथ्वी, जो तुम्हारा मध्य भाग है, नाभिस्थानीय केन्द्र स्थान है और जो तुम्हारे बल सम्पन्न प्रदेश हैं उसमें हमें स्थापित करो। हम को सब ओर से पवित्र करों। भूमि मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। मेघ मेरा पिता है वह भी हमारा पालन करे[31]।

वेद की शैली में, प्रार्थना के रूप में मनुष्य को आदेश दिया जाता है, अतः इन मंत्रों में मृदा

(पृथ्वी) को प्रदूषण से बचायें रखने का उपदेश दिया गया है।

वेदों के शान्तिमंत्रों[32] में मृदा आदि की जो प्रार्थना की गयी है, वह वास्तव में पर्यावरण प्रदूषण को रोकने का मूल-मंत्र है।

मृदा-संरक्षण के प्रति वेद सचेत हैं। अथर्ववेद का कथन है कि-यह हितकर बात है कि यदि कोई व्यक्ति भूमि का दोहन व शोषण करता है तो हम तेजस्विता के साथ विवेक युक्त होकर उसका नाश करें[33]। मृदा-प्रदुषण के दुष्प्रभाव अब हमारे सामने आने लगे हैं[34]।

हमारा दायित्व है कि विश्वशंभुवा[35] अर्थात् विश्व का कल्याण करने वाली पृथ्वी की-मृदा को प्रदूषित कर उसका व स्वयं का अकल्याण न करें।

वैदिक जीवन दर्शन व मूल्यों का यदि मानव अनुकरण करेगा तब प्रदूषण युक्त भूमि श्री व भूति प्रदान करेगी और मानव मंगलकारी रीति से प्रतिष्ठित होगा-

भूमे मातर्निधेहि मा, भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे, श्रियां मा धेहि भूत्याम्।।[36]

डा. नन्दिता सिंघवी
व्याख्याता, संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर डूँगर महाविद्यालय,
बीकानेर-३३४००१

संकेत सूची :-

1. एन्वायरमेण्टल स्टडी-डा.जे.ऐन. गुर्टू। 1990, विमल पब्लिकेशन्स, मेरठ।
2. यजुर्वेद, 36.17
3. अथर्ववेद, 2.28.4, 3.9.1., 12.1.12; यजुर्वेद, 10.23; ऋग्वेद 1.160.2,3
4. इयं (पृथिवी) वै पुष्करपर्णम् - शतपथ ब्राह्मण, 7.4.1.12
5. शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोघ्नी पयस्वती-अथर्ववेद 12.1.5.
6. विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी-वही, 12.1.6
7. वही, 4.39.2
8. वही, 6.120.2
9. वही, 9.14.4
10. यजुर्वेद, 10.23
11. वही, 13.8
12. अथर्ववेद, 12.1.62
13. वही, 12.1.62
14. अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान्य अक्षियन्पृथिवीं यादजायत-वही, 12.1.57
15. यत्ते भूमे विखनाभि क्षिप्रं तदपि रोहतु। मा ते मर्म विमृग्वरी मा ते हृदयमर्पितम्।। वही, 12.1.35
16. भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्। जरदिष्टं मा पृथिवी कृणोतु।। वही, 12.1.22- यजुर्वेद, 2.6-8
17. देवो वनस्पति रूहवों मा पाहि-तैत्तिरीय संहिता, 1.2.2.3

18. 1. 2. 2. 2
19. 3.9.4
20. ऋग्वेद, 10. 146
21. अथर्ववेद, 12. 1. 11
22. यस्यां वृक्षा वनस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि।। वही, 12. 1. 27
23. "डिफोरेस्टेशन एण्ड इट्स कंसीक्वेन्सिज़ -ए- फोर्मिडेबिल सिचुएशन इअन इण्डिया" वाई यज्ञमा रेड्डी, के. ऐस.ऐस. प्रसाद एण्ड जी जयचन्द्र रेड्डी, एनिवश्न्मेण्ट एण्ड इकोलोजी, 8(1), 1990, 192
24. "कन्जर्वेशन स्टेट्स ऑफ दि चिला मोतीचूर कॉरिडोर गेर एलीफैण्ट मुवमेण्ट इन राजाजी कार्बेट्ट पार्क्स एरिया" ए.जी.टी. जोह्नसिंह, नरेन्द्र प्रसाद एण्ड एस.पी. गोयल। बायोलोजिकल कन्जर्वेशन 51(2), 1990, 125
25. अथर्ववेद, 12.2.57
26. वही, 3.14.3; 12.1.46-49
27. "स्टेटस ऑफ स्नो लिओपार्ड पैन्थेरा यून्सिया इन नोर्थ वेस्ट इण्डिया", जे.एल.गेक्स, एस.पी. सिन्हा, आर.के. चूड़ावत एण्ड पी.के. दास। बायोलोजिकल कन्जर्वेशन, 55, 1991,238
28. अथर्ववेद, 12.1.49
29. वही, ऋग्वेद 4.32, अथर्ववेद 3.28; 4.21; 9.7; 14.2 आदि।
30. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा।। अथर्ववेद, 12.1.7
31. यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यमि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु। वही, 12.1.12
32. वही, 19.9.1, 5
33. यद् बदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः।। अथर्वकेद, 12.1.58
34. "प्रदूषण के भावी संकट"- प्रदूषण पृथ्वी का ग्रहण, प्रेमानन्द चन्दोला, पृष्ठ 110-115, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली- 110031
35. ऋग्वेद, 1.160.1, 4; 6.70.6
36. अथर्ववेद, 12.1.63

ऋषि कुतुक से पराजित उर्वशी

पुरुरवा और उर्वशी की प्रेम कथा भारतीय साहित्य में आदिकाल से ही मिलती है। सर्व प्रथम ऋग्वेद में इसका उल्लेख प्राप्त होता है-

पुरुरवः! पुनरस्तं परोहि
दुरापना वात इवाहमस्मि।

अनेक भारतीय ग्रंथों में इस कथा का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख मिलता है। पुरुरवा सोमवंश के आदि पुरुष हैं। शतपथ ब्राह्मण में महाराज पुरुरवा से उर्वशी को छह पुत्ररत्न प्राप्ति का उल्लेख मिलता है। वहाँ ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'आयु' बतलाया गया है।

ऋग्वेद में उर्वशी के आविर्भाव का उल्लेख है किन्तु इसकी उत्पत्ति पर कोई निश्चित मत नहीं है। उर्वशी की उत्पत्ति के संबंध में दो मत प्रचलित हैं-(1) जब देव और असुरों ने समुद्र मंथन किया था तब जो अप्सरायें निकली थी उनमें उर्वशी भी थी, (2) नारायण ऋषि ने अपनी योगमाया से एक अप्सरा की सृष्टि की, जो उनके उरु से उत्पन्न हुई। वह अत्यन्त रूपमती थी। उरु से उत्पन्न होने के कारण वह उर्वशी कहलायी। ऋषि ने उसे इन्द्रलोक भेज दिया।2

श्री अनन्त राम मिश्र 'अनन्त' की सन् 1979 की प्रकाशित कृति उर्वशी-उर्मिला' (दो काव्याख्यान) मुझे अचानक डॉ0 अम्बाप्रसाद 'सुमन' की निजी लायब्रेरी में प्राप्त हुई। मैंने उसे आद्योपान्त पढ़ा। इसके प्रथम आख्यान 'उर्वशी और कुतुक' ने मुझे प्रभावित किया। मुझे यह आख्यान युग सापेक्ष भी प्रतीत हुआ। इसमें कवि ने युगानुरूप परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए त्रिवर्गीय पात्रों को प्रमुख रूप से प्रस्तुत किया है-

1. आधुनिकता की प्रतीक उर्वशी
2. साधना पथ के संयमी-पथिक ऋषि द्वय-पर्वत और कर्दम
3. साधना-शिखर पर आरूढ़ विजयी कुतुक।

मिश्र जी का यह काव्याख्यान प्राचीनता एवं नवीनता का दर्पण है। इस लेख में मैंने ''कुतुर्षि' से पराजित 'उर्वशी' के प्रसंग पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की है।''कुतुर्षि' की 'उर्वशी' पर विजय'' को काव्यमय रूप में मिश्र जी ने बड़ी सरस शैली में प्रस्तुत किया है।

मिश्र जी को 'उर्वशी और कुतुक' की कथावस्तु सर्वप्रथम कानपुर से निकलने वाली श्री सेवक वात्स्यायन द्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका 'अनुरंज्जिका' (15 मार्च 1972) में ''उर्वशी कहाँ है?'' शीर्षक से प्राप्त हुई। श्री मद्भागवत में भी पर्वत, कर्दम और कुतुक में से पर्वत और कर्दम की चर्चा देवहूति के साथ मिलती है। मिश्र जी ने 'उर्वशी और कुतुक' वृत्त को इक्तालीस विविध सवैया छंदों में लिखा है।

जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। काम को सृष्टि का मूल माना गया है। वासना की उपासना अनादि काल से होती आयी है। साथ ही यह भी सत्य है कि तप, संयम एवं साधना काम के सम्मुख सदैव परास्त नहीं हुए हैं। गंगापुत्र भीष्म, पाण्डु पुत्र अर्जुन, अष्टावक्र,

कुतुक आदि के आगे काम ही पराजित हुआ। रूप-यौवन से सम्पन्न इन्द्रलोक की रूपसी अप्सरा उर्वशी जब अर्जुन से अपमानित हुई तब वह अर्जुन को क्लीव पुरुष होने का शाप दे बैठी। इसी शाप के परिणाम स्वरूप अर्जुन को विराट् राज के यहाँ क्लीव रूप में रहना पड़ा।[1]

'उर्वशी और कुतुक' काव्याख्यान के अन्तर्गत अन्न्त जी ने उर्वशी के रूप-सौन्दर्य का अनुपम वर्णन किया है। इन्द्र से संभाषण करती हुई उर्वशी कहती है-

" प्यास नहीं अभी यौवन की बुझी
कामना निर्झर-सी इठला रही।"[२]

रूप गर्विता उर्वशी का अहंकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वह महर्षियों तक को प्रश्रयावनत मानती है। इन्द्र इसे अपना अपमान समझते है और वे तिलमिला उठते हैं। नारद जी उनकी व्यग्रता समझ जाते हैं और उनको सान्त्वना देते हुए कहते हैं-

"संयमियों की कमी नहीं संसृति में,
इसको दिखला के रहूँगा
नित्य के कृत्य करो तुम, उर्वशी
का सब दर्प मिटा के रहूँगा॥

नारद जी ने इंद्र का सभा में पर्वत, कर्दम और कुतुक को आमंत्रित किया। ये तीनों ऋषि निश्चित समय पर उर्वशी के नृत्यायोजन में उपस्थित हुए। उर्वशी के नृत्य के प्रारम्भ होने पर धीरे-धीरे संयमी पर्वत और कर्दम ऋषि के संयम के गढ़ हिलने लगे। धीरज के कगार टूट चले। उर्वशी ने जैसे विजय श्री प्राप्त कर ली। वह स्मर-प्राङ्गण में वीरों को धरा साई कर चुकी।

पर्वत और कर्दम की भाँति कुतुर्षि साधना पथ के अर्द्ध-पथिक नहीं थे। वे तो नितान्त पहुँचे हुए संयमी एक निष्ठ साधक-सन्त थे। दैविक, भौतिक रहस्यों के ज्ञाता थे। इन्द्र की सभा में नारी के उस रूप को देखने के लिए प्रतीक्षित थे, जो मानव को विक्षिप्त कर देता है-

"पागल जो करती जन का मन
रूप की राशि सँवारी कहाँ है।२
"मैं उसे देखना चाहता हूँ, इस
अंग-तरंग से न्यारी कहाँ है।"[३]

नारद ऋषि को समझाते हुए कहते हैं-

"नारद ने कुतुकर्षि को यों समझाया कि 'क्या मन में जड़ता है।

रजत-भ्रम सीप में सर्प का रज्जु में त्यों सदा मुने! उर्वशी के तन में है।"4

महर्षि कुतुक की साधना के पथ में कभी भौतिक रूप आड़े नहीं आया-

"साधना के पथ में उनके कभी
भौतिक रूप नहीं अड़ता है।"[१]

ऋषि कुतुक को उस समय बड़ी मर्मांतक पीड़ा हुई जब उनके दो साथी पर्वत और कर्दम उर्वशी के रूप-सौन्दर्य द्वारा छले गये-

"नारद! है जड़ता नहीं, खेद कि
व्यर्थ दो मित्र हमारे छले गये।"[२]

ऋषि कुतुक उर्वशी का दर्प दलित करके पुनः तप के लिए चले गये। अन्तिम जीत संयम की हुई-

"अन्तिम जीत है संयम की'-
दृढ़ हो, भर बुद्धि में भाव भले गये।"[३]
"और यहाँ रुक क्या करेंगे अब
अप्सरा के सब दर्प दले गये।"[४]

बेचारी रूप गर्विता उर्वशी पराजित थी। वह अकुलायी हुई सी लजाई हुई सी इन्द्र के समक्ष खड़ी रह गयी-

"दम-संयम-शक्ति के सामने, वासना
म्लानमना अकुलायी हुई थी।
खड़ी इन्द्र-समक्ष नतानत निश्चल-
उर्वशी आज लजायी हुई थी।"[५]

कुतुकर्षि से पराजित उर्वशी का रूप चित्रित करके मिश्र जी ने काम पर संयम की विजय का जो परिचय दिया है उससे भारतीय संस्कृति का गौरव बढ़ा है। तप, संयम, साधना के प्रति निष्ठा बढ़ी है। आधुनिक युग में ऐसे कवि और काव्य ही समाज का दिशा निर्देश करने के साथ ही युवा-वर्ग का सही मार्ग-दर्शन भी कर सकते हैं।

डॉ० शारदा शर्मा
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
मुन्नालाल एवं ज०ना०वि०क०भी०
ए० ८७ आवास विकास, सहारनपुर

इतिहास बोलता है.........

संसार में किसका समय है, एक सा रहता सदा।
निशि-दिवा सी घूमती, सर्वत्र विपदा-सम्पदा।।
जो आज एक अनाथ है, नरनाथ कल होता वही।
जो आज उत्सव मग्न है, कल शोक से रोता वही।।

राष्ट्र-कवि मैथिली शरण गुप्त की यह वाणी इतिहास के काल-चक्र की विडम्बना बनकर बोल रही हे। हाँ, हाँ, कवियों की ओजस्वी वाणी में, महापुरुषों के महान् क्रिया कलापों में, वीरों के शौर्य प्रदर्शन में, शस्त्रों-अस्त्रों की झंकारों में, यौवन की उद्दाम प्रचण्ड ज्वालाओं में, तपस्वियों और मनीषियों की ज्ञानाग्नि के तपः पूत यज्ञ की परम पावनी प्रचण्ड आहुतियों में, झनझनाती बेडियों में कशमशाता इतिहास, विप्लव का-विद्रोह का-गदर का, क्रान्ति का जलता, गरजता, शौर्य की उत्तप्त रक्तवाहिनियों में उबलता-उफनता इतिहास। इतिहास बोलता है।

इतिहास, हाँ इति + ह + आस। इतिहास ही है। रुदन व हास-परिहास से संवलित इतिहास। इतिहास निर्माण का पाथेय है। आने वाली पीढ़ी को झकोरता है। झकझोरे क्यों न? इतिहास मिट्टी से सम्भूत होता है। रक्त से सींचित होता है। भावनाओं से स्फुरित होता है। व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र व विश्व से सम्पृक्त होता है। बड़ी वेदनायें-आपदायें-पीडायें-हास-विलास परिहास सहकर भी इतिहास चुप नहीं रहता, वह बोलता है। वह चुप रह ही नहीं सकता। उसकी प्रकृति में स्पन्दन हैं। जीवन है, गति है। वह चरैवेति का साकार रूप है। वह काल गति को अंकित कर उसे उभार देता है, शब्द देता है। यही तो इतिहास है। इसी चेतना से समस्त जग व्याप्त है।

इमारा इतिहास, थोथा इतिहास नहीं है। यह वेद, महाभारत, रामायण, पुराण, उपनिषद्, दर्शन, चरक, सुश्रुत, वराहमिहिर, वाग्भट्ट, कर्पर, कालिदास, भवभूति, भास, वाणभट्ट आदि का सत्य-सनातन इतिहास है। बड़े-बड़े साम्राज्यों, सम्राटों, महाराजाओं के क्रियाकलापों, बड़े-बड़े निर्माणों, मीनारों, किलो, प्रासादों, मन्दिरों, गुफाओं, गगन चुम्बी अट्टालिकाओं, स्तूपों, शिलाओं का इतिहास है। समय की दीवारों पर उत्कीर्ण उन सबकी यशः गाथाओं का इतिहास है। हमारा इतिहास शिव, राम, कृष्ण के परम पवित्र जीवन का उनके लोक कल्याण में समर्पित जीवन का इतिहास है। गंगा-यमुना-ब्रह्मपुत्र, सिंधु, कावेरी के तटों पर विखरा संस्कृति व सभ्यता का इतिहास है। हिमालय की उत्तुंग हिमाच्छादित धवलिम चोटियों का इतिहास, समुद्र की अगाध गहराई में और विस्तृत गगन व अन्तरिक्ष में कुछ खोजता, ऊँचाई को छूता इतिहास। बन्देमातरम् का इतिहास, भारत माँ की जय का इतिहास। हाँ, हाँ यही वह इतिहास है जिसे बड़े-बड़े मनीषियों ने, साहित्यकारों ने, नीतिकारों ने, भूपतियों ने, शिल्पकारों ने स्वातन्त्र्यवीरों ने वाणी दी, रूप दिया और गति दी।

इस पुण्यभूमि का इतिहास, अंगडाई लेता इतिहास, भारत के नवनिर्माण का इतिहास, स्वातन्त्र्योत्तर अनेक संघर्षो व युद्धों का इतिहास, जियो और जीने दो का इतिहास, जय-जवान और जय किसान तथा जय विज्ञान का, भारत की अस्मिता, परमाणु विस्फोटो, अग्नि-पृथ्वी मिसाइलों का इतिहास। दूर संचार व सोफ्टवियर में अद्वितीय उपलब्धियों का इतिहास। खाद्यान्न में पूर्ण निर्भरता का इतिहास। पड़ोसियों से मित्रता व यथायोग्यवाद का इतिहास। भावी सदी का इतिहास। नमन है, नमन है, तुझे ए इतिहास! नमन है।

हमारा इतिहास, हमारी अस्मिता है। शौर्य-उत्सर्ग वीरता व पराक्रम का इतिहास है। स्वराज्य के लिए मर मिटने का इतिहास है। हमारा इतिहास-स्वतन्त्रता देवी के चरणों में अपने शीश अर्पित करने वाले क्रान्तिवीरों का इतिहास, जग-मगाता इतिहास, चमकता इतिहास, हृदयों को उल्लसित कर देने वाला इतिहास, जन्म भूमि भारत माँ की जय-जयकार का इतिहास, अपनी प्यारी मातृभूमि के दारुण दुखों का इतिहास, रक्तिम इतिहास, जलता इतिहास, दहकता इतिहास हृदयों को विदीर्ण कर देने वाला इतिहास, भूखे और नंगे तथा गरीब व अमानवीय अत्याचारों से त्रस्त जन-जीवन का इतिहास, करवट लेता इतिहास, अंगडाई लेता इतिहास-हाँ यही है वह इतिहास, जिसे भारतीय जनता ने अपने रक्त बिन्दुओं से सींचा। यह इतिहास आज का नहीं वर्षों-वर्षों का इतिहास है। इसी इतिहास की एक महानतम कड़ी है लोक मान्य बाल गंगाधर तिलक, जो वस्तुतः भारत माँ के भाल के तिलक थे।

भारतीय धमनियों में बहने वाला स्वतन्त्रता का जोशीला रक्त तिलक जी से पूर्व भी भारतीय मृत्तिका से अग्नि बाणों की तरह निकल निकलकर उत्पीड़क व उद्दण्ड राज-सत्ता को चुनौती देता रहा। उसे बेधता रहा। सालता रहा। आंधी और तूफान बन झकोरता व झंझोड़ता रहा।

अपनी प्यारी जन्मभूमि भारत माँ को परतन्त्रता को बेडियों में जकड़ा देख-कभी नाना जी, तात्याटोपे, कुंवरसिंह, रानीलक्ष्मीबाई, गोबिन्दसिंह, शिवाजी, महाराणा प्रताप आदि एवं उनके पीछे सुभाष, सावरकर, बिस्मिल, अशफाक, भगतसिंह, चन्द्रशेखर, राजगुरु, सुखदेव आदि वीर-हृदयों में असीम चाह और हाथों में तेग तलवार-तमंचे लेकर निकले, तो कभी गुरु रामदास, गुरु विरजानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द राणाडे, गोखले और उनके पीछे तिलक, गांधी, लाला लाजपत राय जैसे संत व नेता अपने कृत्यों से जनमानस में वैचारिक क्रान्ति का शंखनाद करते रहे।

कितनी प्यारी चीज है स्वतंत्रता! स्वतन्त्र रहना कौन नहीं चाहता? आज संसार का छोटे से छोटा राष्ट्र भी किसी बड़े राष्ट्र की प्रभु सत्ता के नीचे अपने सपनों को दफन नहीं करना चाहता।

राष्ट्रों के जीवन में समय-समय पर कुछ महान् विभूतियाँ आती है जो क्रान्तिकारी परिवर्तन कर जाती है और समयानुसार कोई न कोई नारा दे जाती है। तिलक जी ने हमें एक महान् नारा (उद्घोष) दिया था-"स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है"। उस समय की नृशंस और अत्याचारी अंग्रेजी सत्ता को बरबस कँपा देने वाला यह नारा 'बालगंगाधार तिलक की आवाज नहीं अपितु जन-जन की आवाज वन गूंज उठा था। स्वतन्त्रता आन्दोलन के उन दिनों में सर्वत्र **बाल, पाल और लाल** की ही चर्चायें होती थी। सारा देश इनकी आवाज सुनता था।

हमारे नायक तिलक जी का जीवन सत्य-न्याय और स्वतन्त्रता, कर्तव्य निष्ठा व साहसादि गुणों से ओत-प्रोत था। पत्रकारिता वाक्पटुता, कर्मशीलता, राजनैतिक विवेकता सभी क्षेत्रों में उनकी अनुपम छाप पड़ती थी। सचमुच तिलक जी का जीवन, जीवन के उच्चतम आदर्शों की एक खुली पुस्तक है। गांधी युग से पूर्व तिलक ही तिलक थे। उन्हीं का मान-सम्मान था। उनकी लेखनी और वाणी ही भारत राष्ट्र को गति और उत्साह प्रदान करती थी। नीति और राह दिखाती थी, भारतीय इतिहास का वह युग 'तिलक-युग' था।

ऐसे लोक मान्य महामानव तिलक जी का जन्म 23 जुलाई 1856 ई0 में महाराष्ट्र के रत्नागिरि कस्बे में रामचन्द गंगाधार राव और पार्वती बाई के घर में हुआ था। केशव उनका बचपन का नाम था। संस्कृत और गणित पर उनका प्रारम्भ से ही असाधारण अधिकार था। बिना कागज पैन्सिल गणित के कठिन से कठिन सवाल क्षणों में हल कर देते थे।

सत्यवादी ऐसे कि उसके लिए अपने को न्यौछावर कर देने वाले, पढ़ते हुए एक बार किसी बालक ने मूंगफली के छिलके उनके पास डाल दिए अध्यापक की असत्य बात के सामने डट गए। क्योंकि मूंगफली तिलक ने नहीं खाई थी। पिता ने भी अध्यापक से कहा-'तिलक सदा सत्य बोलते है और बाहर की कोई वस्तु नहीं खाते।' ऐसे सत्य के प्रति हठीले थे हमारे तिलकजी महाराज।

समय आया। सर्वत्र भारत के कोने-कोने से तिलक-तिलक यही आवाज आती थी। यही गूंज होती थी। तिलक नेता नहीं। सेवक थे। पीड़ित जनता के सेबक। पराधीन जनता के सेबक। कराहती और तड़पती जनता के सेवक/प्लेग की महामारी से तड़पती जनता के सेवक। दु:खी जनता के सेवक। अशिक्षित व बेपढ़ जनता के सेवक। सच्चे-हित-चिन्तक। सन् 1908 के वे दिन। मांडले जेल में तिलक जी नजरबन्द, अपराध...... केसरी अखबार में अंग्रेजी राज्य सत्ता के विरुद्ध लेख। खुला राज-विद्रोह। किन्तु मांडले जेल से आध्यात्मिक विचार गंगा की अमृत धारा 'वह निकली-"गीता रहस्य" रूप में विश्व की अनुपम पुस्तक। इस ग्रंथ ने भी तिलक जी को अमर कर दिया।

तिलकजी मन-वचन और कर्म की एक-रूपता के प्रतीक थे। भारतीय जनता के बेताज के बादशाह थे। अपने विशेष गुणों के कारण ही जनता के प्यारे बने और **लोक मान्य** कहलाये। 31 जुलाई 1920 को भारत के इस अमर सपूत का महा प्रयााण हुआ। सारा राष्ट्र ही शोक-संतप्त नहीं हुआ अपितु प्रकृति भी रो उठी। आकाश से भी भारी वर्षा की झड़ी लग गई उनके कार्य उनका नाम अमर है आओं स्वतन्त्रता की इस जन्म सिद्ध अधिकार की महान् ज्योति को कभी बुझने न दे। स्वतन्त्रता के अमर शहीद सपूतों को कभी विस्मृत न होने दें। इतिहास बोलता है बोलता रहेगा। समय की भित्ति पर स्वर्णिम रेखायें चित्रित होती हैं होती रहेंगी। परन्तु 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' गीता की यह पंक्ति कर्त्तव्य का बोध कराती रहेगी। युग-युग तक-हाँ युग-युग तक।

- महावीर 'नीर' विद्यालङ्कार
गुरुकुल कांगडी,
हरिद्वार

महर्षि दयानन्द की वैज्ञानिक दृष्टि

आदि सृष्टि में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरादि ऋषियों के माध्यम से वेद ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी ज्ञन के आधार पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जब देखा कि समाज मूलत: वैदिक सिद्धान्तों एवं संस्कारों से दूर हो गया है तो उन्होंने दिग्भ्रमित समाज को सुव्यवस्थित एवं संस्कारित करने के लिए मानवीय जीवन में कृण्वन्तो विश्वमार्यम् के सिद्धान्त को परिलक्षित करने का व्रत लिया। यजुर्वेद का वेद वाक्य 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा' भी निरन्तर वेद-वाणी के श्रवण की ही शिक्षा प्रदान करता है, क्योंकि अनादि काल से ही इस सृष्टि का रचयिता परमात्मा है जो शासक, स्वामी एवं नियन्ता भी है। जो प्राणी श्रेष्ठ, सदाचारी, धर्मात्मा, सत्यवादी, संस्कारी तथा प्रगति शील होता है। वही आर्य अर्थात् ईश्वर-पुत्र कहलाता है।

विगत पाँच हजार वर्षो के इतिहास में आज तक महर्षि दयानन्द सदृश सूक्ष्मदर्शी दिव्य द्रष्टा, वेदों के यथार्थ स्वरूप का व्याख्याता, नाना मत मतान्तरों के जाल से मानव जाति को मुक्त कराकर एकता और प्रेम के सूत्र में विश्व को बांधने वाला प्राचीन आर्य-सभ्यता और संस्कृति को गौरवान्वित करने वाला, निर्भीकता पूर्वक सत्य भाषण वक्ता महामानव नहीं हुआ। वस्तुत: 19वीं सदी के महा नायक महर्षि दयानन्द सरस्वती एक़ युग द्रष्टा ऋषि थे। जिन्होंने हिमालय की चोटी से संसार को सन्देश दिया कि वैदिक ज्ञान की ओर लौटो तथा अपने जीवन को आर्य बनाते हुए-

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
सवं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा:॥

मनुस्मृति के इस वाक्य को जीवन में संयोजित कर 'मत्वाकर्माणि सिव्यति' के सिद्धान्त को परिलक्षित करो। दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश तथा स्व मन्तव्यामन्तव्य प्रकाश की भूमिका में अपने सार्वभौम विचारों और मन्तव्यों को भली प्रकार दर्शाया है। विज्ञान, आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक, शैक्षणिक, शारीरिक, राजनीतिक, औद्योगिक, आर्थिक तथा वर्णाश्रम व्यवस्था को स्पष्ट रूप में वर्णित किया है। दूसरी ओर महर्षि दयानन्द की सूक्ष्मेक्षिका वैज्ञानिक दृष्टि ने वेदों का आश्रय लेकर मूर्ति-पूजा, अवतार वाद तीर्थाटन, जन्म परक, वर्ण-व्यवस्था, गुरुडम, सम्प्रदायवाद, श्राद्ध-तर्पण, सती-प्रथा नारी-असमानता, आदि कुरीतियों व अन्धविश्वासों का विरोध एवं खण्डन वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृति एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की महत्ता को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रसारित किया है। दयानन्द के मत में-सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जातें हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। दयानन्द की शिक्षा-नीति भी वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। उसमें सह-शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं है। सह-शिक्षा पाश्चात्य संस्कृति के संस्कारों की जननी है, किन्तु वैदिक गुरुकुलीय शैक्षिक प्रणाली मानव को जहाँ सुसंस्कारों से संस्कृत करती है वहीं वेदों में वह सभी ज्ञान सामग्री विद्यमान है जो प्राणिमात्र को ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा से अभिसिञ्चित करती है। दयानन्द जानते थे कि वेदों में केवल यज्ञ-योग एवं आध्यात्म ही नहीं है अपितु ज्योतिष, यान्त्रिक कला, खगोल, भूगोल, काम-शास्त्र एवं शिक्षा शास्त्र के मूल सिद्धान्त

भी विद्यमान हैं, जिन्हें देखकर आधुनिक विशेषज्ञ वैज्ञानिक मौन रह जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त भी करोड़ो वर्षों पूर्व वेद के दीर्घतमा ऋषि ने आधुनिक वैज्ञानिक न्यूटन से पूर्व ही प्रतिपादित कर दिया था, वहीं दयानन्द के प्रबुद्ध शिष्य पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी ने भी वेद के "मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुण च." इस मन्त्र को लेकर जल की संरचना के सिद्धान्त को निरूपित किया है जो वेदों एवं वेदानुकूल महर्षि दयानन्द की वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम है।

श्री अभिनव कृष्ण भारती की पुस्तक वैदिक गणित ने तो न केवल भारत में बल्कि जर्मन, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों के विश्व विद्यालयों को भी अनुसंधान का नया विषय प्रदान कर दिया है। यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में ज्योतिष सिद्धान्त निहित हैं। वायुयान का आविष्कार होने से पूर्व ही यहाँ संस्कृत भाषा में निबद्ध 'वृहद् विमान शास्त्र' नामक ग्रन्थ उपलब्ध था जो जीर्ण-क्षीर्ण अवस्था में प्राप्त हुआ है। वेदों में प्राप्त इन वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के आधार पर ही महर्षि दयानन्द ने कहा था कि यदि मुझे समस्त साधन एवं उपकरण प्राप्त करायें जाये तो मै भी वायुयान का निर्माण कर सकता हूँ। प्राचेन काल में भौतिक, वैज्ञानिक ऋषि महर्षि भारद्वाज का वैज्ञानिक दृष्टि कोण भी वेदानुकूल एवं शास्त्र सम्मत था, जिसका वर्णन उपनिषदादि में प्राप्त होता है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में स्वामी दयानन्द ने लिखा है-वेदों में दो विद्यायें है। -एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है, दूसरी परा-जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।

स्वामी दयानन्द की इस वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय प्रेम की दृष्टि को देखकर उनकी मृत्यु के समय फैडरिक पैन्थम पाश्चात्य वैज्ञानिक ने कहा था- "स्वामी दयानन्द की मृत्यु का समाचार मेरे लिए वज्रपात के तुल्य है, उनके देहावसान से भारत ने एक ऐसा दार्शनिक खो दिया है जिसके समान भारत में सम्भवतः अन्य दार्शनिक पैदा नहीं होगा।" कांग्रेस के संस्थापक एलन आक्टेवियो ह्यूम, जे0 रीड ग्राह्म, पी0 हैरीसन, ऐनीबैसेन्ट आदि पाश्चात्य विद्वान् दार्शनिकों ने भी दयानन्द को श्रेष्ठ पुरुष मानते हुए अनुभव किया कि दयानन्द को खोकर भारत को बहुत हानि उठानी पड़ी है।

विश्व बन्धुत्व की कल्पना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का लक्ष्य विश्व को काया-कल्प करने की क्षमता केवल वेद में है जो समता, विश्व भ्रातृ-भाव, सर्वांगीण विकास और वैज्ञानिक आधार से पूर्णतया सम्पुष्ट है।

पाश्चात्य वेदज्ञ भी अब वेदों के यथार्थ स्वरूप का सामुख्य करने पर विवश हो रहे हैं। वेद विश्व धार्म का मूलाधार है अतः देर-सवेर विश्व को इनकी ओर ही लौटना होगा। साम्प्रदायिक आग्रहों से मुक्त होकर यदि वेद मंथन हो तो और उनके अनुरूप हमारा आचरण हो तो प्राचीन आर्यों की भांति हर हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी-यहूदी अपने व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं वरन्

अपने सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकता है। विश्व-शान्ति, विश्व भ्रातृत्व और विश्व कल्याण का लक्ष्य इसी क्रान्ति-पक्ष पर चल कर प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः वेद ही मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य की आशा है।

हम प्रतिवर्ष युग-प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी का पुण्य समरण करते हुए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। जिसकी महक हमारे दिल, दिमाग और आत्मा को पूरे वर्ष भर सुवासित किये रखती है, लेकिन इतने मात्र से हम ऋषि-ऋण से उऋण नहीं हो सकते। इसके लिए तो हमें संसार भर में ऋषि का वेद-गान गुंजाना होंगा, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का लक्ष्य पूरा करना होगा। ऋषि दयानन्द का उद्देश्य और लक्ष्य अभी अधूरा है उसे पूरा करने के लिए हमें संसार की चारों दिशाओं में वेद का प्रकाश फैलाना होगा जिससे वास्तविक विश्व-धर्म की सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता, विश्व-भ्रातृत्व तथा विश्व शान्ति का चिर-घोषित पथ प्रशस्त हो सके। यही प्रातः स्मरणीय देव दयानन्द के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी। यथा-

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्ध्नि वचसा वेदयामसि॥

डॉ० योगेश शास्त्री
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. (हरिद्वार)

नाट्य में रूपकों की संख्या-एक विवेचन

आचार्य भरतमुनि की अमरकृति 'नाट्यशास्त्र' संस्कृत साहित्य जगत् में समस्त कलाओं का विश्वकोष माना जाता है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्यकला की उत्पत्ति का आख्यान उपलब्ध होता है। इसके अनुसार प्राचीनकाल में त्रेता युग में वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में लोगों के काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि के वशीभूत हो जाने पर इन्द्रादि देवों ने ब्रह्मा के पास जाकर एक ऐसे क्रीडनीयक के निर्माण की प्रार्थना की जो दृश्य एवं श्रव्य हो।[1] इसी के फलस्वरूप ब्रह्मा ने समाधिस्थ होकर 'नाट्यवेद' नामक पञ्चम वेद की सृष्टि तथा भरतमुनि को इसकी शिक्षा देकर उन्हें अपने पुत्रों के साथ प्रयोग करने के लिए आदेश दिया।[2] आचार्य भरत ने जिस नाट्यशास्त्रीय परम्परा का सूत्रपात किया उसी को आधार बनाकर कालान्तर में शास्त्रीय एवं काव्य ग्रन्थ लिखे गए।

काव्य में नायक की धीरोदात्तादि जो अवस्थाएँ प्रतिपादित की गई हैं उसी को 'नाट्य' की संज्ञा प्रदान की गई है। जैसा कि दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने लिखा है-

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्"

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ में नाट्य को इन शब्दों में परिभाषित किया है-

नटकर्मेव नाट्यं स्यादिति नटविदां मतम्।[3]

नाट्य को 'रूपक एवं 'रूप' की भी संज्ञा दी जाती है। नट किसी भी मूल नायक आदि का अभिनय मन्च पर प्रस्तुत करता है। इस प्रक्रिया में नट पर नायकादि के व्यवहारों का आरोप होने से ही नाट्य को 'रूपक' कहा जाता है तथा जो अभिनय नट प्रस्तुत करता है वह सामाजिकों के द्वारा देखा जाता है। इस कारण से इसकी 'रूप'संज्ञा भी सार्थक है।

अभिनय पर आधारित इस नाट्य के भेदों की चर्चा भी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होती है। 'नाट्य-शास्त्र' में आचार्य भरत ने नाट्य के दस भेदों की चर्चा की है जो इस प्रकार हैं- नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग।[1] 'भरत प्रतिपादित नाट्य के ये दस भेद ही परवर्ती नाट्यशास्त्रियों' के लिए प्रामाणिकता का आधार बन गये। दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने भी भरतोक्त दस प्रकार से रूपकों को ही स्वीकारा है।[2] इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ[3] एवं आचार्य विद्यानाथ[4] भी दस प्रकार के रूपकों को ही मान्यता प्रदान करते है।

नाट्यजगत् में दस प्रकार के रूपकों के अतिरिक्त नाट्य के अन्य भेदों को भी कहीं-कहीं ग्रहण किया गया, जिन्हें उप-रूपक की संज्ञा प्रदान की गई। आचार्य धनञ्जय ने सर्वप्रथम 'नाटिका' का उल्लेख किया है[5] जो दस प्रकार के रूपकों से पृथक् है। आचार्य धनिक ने उपरूपकों को नृत्य का भेद माना है। नाट्य भेद नहीं। उपरूपकों में आङ्गिक अभिनय का बाहुल्य होता है। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भाव प्रकाशन में भरताभिमत दस रूपकों के साथ ही उसके बीस और प्रकार बताए हैं।इनके अनुसार जहाँ भरतोक्त दस रूपक रसात्मक होते हैं। वहीं बीस भावात्मक होते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने भी अठारह उपरूपकों को स्वीकार किया है-

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भणिकेति च।।
अष्टादश प्राहु रूपकाणि मनीषिणः।।[१]

संस्कृत नाट्य में रूपक एवं उपरूपक के ये भेद काल्पनिक नहीं अपितु वास्तविक हैं तथा उसके कुछ आधार भी हैं। शारदातनय के अनुसार रूपक नाट्य है और उपरूपक नृत्य।[2] नाट्य रसाश्रित होता है तथा नृत्य भावाश्रित। इसी प्रकार रूपक वाक्यार्थभिनय को कहते हैं तथा उपरूपक पदार्थाभिनय होता है। धनञ्जय भी इसी मत से सहमत हैं। प्रस्तारतन्त्र के रचयिता तथा आचार्य भरत के शिष्य कोहल के अनुसार नाट्यके दो भेद हैं-मार्ग तथा देशी। इनमें मार्ग के बीस भेद होते हैं। उनमें दस रूपक कहे गए हैं। देशी के दस भेद होते हैं। इस प्रकार इन्होंने नाट्य के तीस भेद माने हैं।[3]

यद्यपि नाट्यशास्त्रीय विद्वानों ने रूपकों, उपरूपकों की संख्या के विषय में भाँति-भाँति के विचार प्रस्तुत किए हैं, तथापि नाट्य के क्षेत्र में नाट्य अथवा रूपकों की मान्य संख्या दस ही है। भरत प्रतिपादित रूपक के दस भेदों को ही प्रधान माना गया है।

रूपकों के इस भेद की चर्चा के प्रसङ्ग में यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि रूपकों के इस प्रकार से भेद-प्रतिपादन का आधार क्या है? यद्यपि सभी रूपक मुख्य रूप से अवस्थाओं के अनुकरण पर ही आधारित हैं तथापि कथावस्तु, अभिनेता एवं रस के आधार पर उनके प्रकार माने जाते हैं। जैसा कि दशरूपककार ने कहा है-

"वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः"

आचार्य विद्यानाथ ने भी अपने ग्रन्थ में कहा है-

"वस्तुनेतृरसास्तेषां रूपकाणां हि भेदकाः"[१]

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में नाटक आदि के विवेचन में वस्तु को विषय बनाया है किन्तु रस को नहीं। इससे यही प्रतीत होता है कि वे केवल वस्तु को ही रूपकों का भेदक स्वीकार करते हैं।

नाट्य के उपर्युक्त भेदक तत्त्वों में कथावस्तु ही नाट्य का शरीर मानी जाती है। आचार्य धनञ्जय ने **कथावस्तु** मुख्य रूप से दो प्रकार की मानी है- मुख्य अर्थात् आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक। आधि कारिक कथावस्तु नेता द्वारा फल सिद्धि तक पहुँचाई जाती है तथा समस्त अधिकृत में व्याप्त रहती है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु आधिकारिक की अङ्गभूत होती है। जैसा कि साहित्य दर्पण में कहा गया है-

"अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते।"[१]

इन दोनों ही प्रकार की कथावस्तु के उदाहरण स्वरूप साहित्यदर्पण में ही कहा गया है।

'रामायण' में रामचन्द्र का चरित आधिकारिक कथावस्तु है तथा सुग्रीव आदि का चरित उसका उपकारक है अतः वह प्रासङ्गिक कथावस्तु है।

नायक के आधार पर भी रूपकों में भेद किया गया है। नाट्शास्त्रीय परम्परा में नायक चार प्रकार के माने गये हैं-

1. धीरोदात्त
2. धीरोद्धत
3. धीरललित
4. धीरप्रशान्त

मुख्य रूप से तो नायक दाता, कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, लक्ष्मीवान् लोगों के अनुराग का पात्र, रूप यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर एवं सुशील माना गया है किन्तु विशेष प्रकार का नायक विशेष प्रकार के गुणों से ही युक्त होता है। जैसे धीरोदात्त नायक तेजस्वी, अत्यन्त गम्भीर, सहनशील, स्वाभिमानी तथा दृढव्रती होता है। 'नाटक' का नायक 'धीरोदात्त' कोटि का ही होता है। जैसे 'उत्तर रामचरितम्' नाटक के नायक राम हैं।

डिम, व्यायोग, वीथी एवं ईहामृग आदि रूपकों का नायक धीरोद्धत होता है। यह दर्प, मात्सर्य, मायावी, छद्मी, अहंकारी, चञ्चल और उग्र स्वभाव वाला होता है।

विभिन्न प्रकार की कलाओं में आसक्ति रखने वाला सुखी और कोमल नायक धीर ललित नायक कहलाता है। प्रायः यह राजवंश तथा नाटिकाओं का नायक होता है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका का नायक उदयन धीरललित कोटि का ही नायक है।

'साहित्यदर्पण' में कहा गया है-

"सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीर शान्तः स्यात्"

अर्थात् सामान्य गुणों वाला, ब्राह्मण, मन्त्री या वणिक् धीरप्रशान्त नायक होता है। प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त ही होता है जैसे 'मृच्छकटिकम्' एवं 'मालतीमाधवभ् में क्रमशः चारुदत्त एवं माधव' धीर प्रशान्त' नायक हैं।

नाट्य में रस सर्वप्रधान तत्त्व माना जाता है। इसके आधार पर भी रूपकों का भेद किया जाता है। रस की महत्ता को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में लिखा है कि रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से निष्पन्न होने वाला रस सहृदयों द्वारा आस्वाद्य होता है। नाट्य में विभिन्न भावों के अभिनय में व्यञ्जित तथा वाणी, अङ्ग एवं सत्त्व से मिले हुए स्थायी भावों का आस्वाद प्राप्त कर सामाजिक (दर्शक) आनन्दित होते है। रसानुभूति से होने वाले आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द कहा गया है।

आचार्य भरत ने शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत संज्ञक आठ रसों को माना है। किन्तु 'नाट्यशास्त्र' की टीका अभिनव भारती में अभिनवगुप्त के अनुसार शान्त

नामक नवम रस भी है। नवरस को स्वीकृति प्रदान करने वाले आचार्यों में आचार्य मम्मट, हेमचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख है। किन्तु आचार्य धनञ्जय एवं धनिक ने शान्त रस की पुष्टि नाट्य में न होने से इसे अस्वीकार किया है-

"शमपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।"

इन्हीं के अनुकरण पर शारदातनय ने भी शान्त रस को नाट्य के लिए उपयोगी नहीं माना है।

उपर्युक्त वस्तु, नेता और रस इन तीन मौलिक भेदक तत्त्वों को आधार बनाकर ही नाट्यशास्त्रीय परम्परा में रूपकों का भेद विवेचन किया गया है।

डॉ० आशा रानी राय
प्राचार्या
कानपुर विद्या मन्दिर महिला
(पी.जी.) महा विद्यालय
स्वरूप नगर- कानपुर

1. नाट्यशास्त्र- 1/12-16
2. नाट्यशास्त्र- 1/19-24
3. भावप्रकाशन, 2 अधिकार, पृ0 46
1. 'नाट्यशास्त्र', 18/2-3
2. 'दशरूपक' 1/8
3. साहित्यदर्पण-6/4-6
4. अग्निपुराण - 338/ 1-4
5. दशरूपक - 3/ 43
1. साहित्यदर्पण-6/3-6
2. भावप्रकाशन - अधिकार-7
3. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर - पृ. 543
1. प्रताप रुद्रयशोभूषण नाटक प्रकरण, पृ. 102
1. साहित्यदर्पण-6 / 4

अध्वरीय तथा अर्ह विश्लेषण

अध्वरीय-वैदिक कोष निघण्टु में 'अध्वरम्' अन्तरिक्षवाची तथा 'अध्वरः' यज्ञवाची नामों में परिगणित है[1]। इस यज्ञवाची 'अध्वर' पद में 'ध्वृ' धातु हिंसार्थक है, अध्वर में उसका प्रतिषेध है। 'नञ्' पूर्वक 'ध्वृ' धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (अष्टा0 3,3,118) से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'अध्वरः' पद बना है। यद्यपि आचार्य पाणिनि के धातुपाठ में 'ध्वृ हूर्छने[2]' धातु कौटिल्यार्थक पढ़ी है, किन्तु निघण्टुकार ने इसे हिंसार्थक माना है। काशकृत्स्नधातुपाठ में 'ध्वृ' धातु अपरिगणित है। एवं यज्ञवाची अध्वर पद का निर्वचन 'अध्वानं सन्मार्गं राति ददति' - इस प्रकार किया जा सकता है। शतपथब्राह्मण में 'तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम[3]' लिखकर अध्वर का यज्ञवाची उल्लेख हुआ है।

चतुर्वेदवैयाकरण पदसूची में अध्वरीय धातु का निर्देश किया गया है, जिससे 'अध्वरीयसि' रूप का प्रयोग माना है। ऋग्वेद में 'अध्वरीयसि' का प्रयोग तीन स्थलों पर हुआ है -

तवे प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ २, १, २

ऋषिः आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः।। **देवता**-अग्निः।। "हे अग्निदेव, जिस समय तुम यज्ञ की इच्छा करते हो, उस समय प्रशास्ता का कर्म भी तुम्हारा है"।

यहाँ वेंकटमाधव एवं सायण ने धातु का अर्थ 'यज्ञ की कामना करना' गृहीत किया है[4]। यास्काचार्य ने इसीलिए "**अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं कामयत इति वा**[5]" कहा है। स्वामी दयानन्द ने यहाँ धातु का "अपने को अहिंसा कर्म की इच्छा करना' अर्थ दिखाया है -हे अग्नि के समान बलवान् वर्त्तमान विद्वान् ! आपका उत्तम शिक्षा करना काम है, आप अपने आप को अहिंसा कर्म की इच्छा करते हो[6]"।

ऋग्वेद (10,91,10) में उपर्युक्त मन्त्र की पुनरावृत्ति हुई है। प्राप्त भाष्यों में अर्थ पूर्ववत् ही हैं।

उप ब्रूषे यजस्यध्वरीयसि।। ऋ० १०,९१,११

ऋषिः अरुणो वैतहव्यः।। **देवता** अग्निः।। "हे अग्निदेव ! तुम यज्ञानुष्ठान करते हो और अध्वर्यु का कार्य करते हो"।

वेंकटमाधव ने "यजमान बनकर यज्ञ करते हो और अध्वर्यु के समान आचरण करते हो" अर्थ किया है[7]। सायण-कृत् अर्थ भी वेंकटमाधवानुसार ही है[8]।

एवं 'अध्वरीय' धातु का अर्थ वेदभाष्यकारों ने यज्ञ करना, अध्वर्यु के समान आचरण करना तथा अपने को अहिंसा कर्म की इच्छा करना किया है। सभी का अभिप्राय यास्काचार्य-प्रोक्त अध्वर्यु के निर्वचन पर आधारित है, जहाँ उन्होंने अध्वर्यु के चार प्रचार के व्याख्यान किये हैं। (१) '**अध्वरं युनक्ति इति अध्वर्युः**"। यज्ञ को संयुक्त करने वाले का नाम अध्वर्यु है। यहाँ अध्वर पूर्वक यज् धातु को '**मृगय्वादयश्च**[9]' से कु प्रत्यय निपातन से होकर 'अध्वर्यु' पद बना है। इसीलिये स्वामी दयानन्द ने अध्वर्यु-पद का निर्वचन एवं किया है- '**अध्वरं यज्ञं यातीति अध्वर्युः**"[१०]। (2) '**अध्वरस्य नेता**"। यज्ञ का नेता। निरुक्त के हिन्दी भाष्यकार श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न का

कथन है कि "णीञ् प्रापणे, और या प्रापणे दोनों धातुयें समानार्थक हैं, यास्काचार्य ने स्पष्टीकरण के लिये नेता का प्रयोग कर दिया है, अन्यथा **'अध्वरस्य याता'** चाहिए[11]"। यहाँ भी अध्वर पूर्वक 'या' धातु से **'मृगय्वादयश्च'** से कु प्रत्यय होकर अध्वर्यु पद सिद्ध हुआ है। **'अध्वरं कामयते अध्वर्युः'** यज्ञ की कामना करने वाला अध्वर्यु है। यहाँ कामना अर्थ में अध्वर पद से "सुपः आत्मनःक्यच्" (अष्टा0 3, 1,8) से 'क्यच्' प्रत्यय होकर "क्याच्छन्दसि" (अष्टा0 3,2,170) से 'उ' प्रत्यय होकर 'अध्वर्यु' पद निष्पन्न हुआ है। (4) **अध्वरम् अधीते अध्वर्युः**। अध्वर्यु यज्ञविद्या का अध्ययनकर्ता होता है। यहाँ अध्ययन करने अर्थ में अध्वर पद से 'यु' प्रत्यय हुआ है। आचार्य पाणिनि ने यद्यपि **'तदधीते तद्वेद'** (अष्टा0 4,2,58) से अण्, **'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्'** (अष्टा0 4, 2, 59) से ठक्, **'क्रमादिभ्यो वुन्'** (अष्टा0 4,2,60) से वुन् तथा **"अनुब्राह्मणादिनिः"** (अष्टा0 4, 2, 61) से इनि- ये चार प्रत्यय अध्ययन अर्थ में माने हैं, किन्तु आचार्य यास्क ने 'अध्वर्यु' पद के निर्माण में अध्ययन प्रकरण होने पर 'यु' प्रत्यय का निर्देश किया है।

लौकिक भाषा में भी 'अध्वर' पद यज्ञार्थ में प्रयुक्त हुआ है-

'तमध्वरे विश्वजिति क्षितिशम्"।। रघुवंश

ऋग्वेद में **अध्वर श्रीः**[१२] (यज्ञ का महान् अविनाशी परमेश्वर का आश्रय लेकर रहने वाला); **अध्वरस्य केतुः**[१३] (अविनाशी महान् यज्ञ का प्रवर्तक और ज्ञापक-सूर्य); **अध्वर्यन्ता** (अश्विद्वय या स्त्री पुरुष का विशेषण। अर्थ यज्ञ की इच्छा करते हुए); **अध्वर्यू**[१५] (हिंसा एवं आत्मविनाश न चाहने वाले, अविनाशी दोनों आत्मा, यज्ञशील स्त्री पुरुष); **अध्वराणां नेता**[१६] (क-यज्ञों का नेता अग्नि; ख-न नष्ट होने वाले तत्वों का संचालक); **अध्वराणां सम्राट्**[१७] (क-यज्ञों का सम्राट् स्वरूप अग्नि; ख-परमेश्वर); **अध्वरीयत्**[१८] (हिंसारहित यज्ञ करने वाला ऋत्विक्; जीवन यज्ञ का सम्पादक प्राण); पदों का प्रयोग प्राप्त होता है, जो हिंसारहित कर्म और यज्ञीय भावना को अध्वरीय से संयुक्त करते हैं।

अर्ह-आचार्य पाणिनि के धातुपाठ में अर्ह् धातु भ्वादिगण में एक बार तथा चुरादिगण में दो बार पूजा अर्थ में पठित है[19]। भ्वादिगणी अर्ह धातु परस्मैपदी है तथा चुरादिगणी उभयपदी। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने इसका क्रमशः(1) पूजा करना, सत्कार करना; (2) पूजनीय होना, पूजा योग्य होना; (3) योग्य होना;-अर्थ किये है[20]। आचार्य काशकृत्स्न ने भी अर्ह धातु पूजा के अर्थ में मानी है, चन्नवीर कवि ने इसका अर्थ 'पूजा योग्य होना' दिखाया है तथा इससे अर्हन्-पूज्यः, जिनः,।अर्हः, अर्हिः, अर्हुः, अर्हणम्-ये चार पूज्यार्थक पद दर्शाये हैं[21]। काशकृत्स्न के धातुपाठ में चुरादिगण में एक बार अर्ह धातु पूजार्थक है[22]। माधवीया धातुवृत्ति में भी चुरादिगणान्तर्गत इस धातु का एकधा व्याख्यान हुआ है, जो उचित है। प्रयोग-सामर्थ्य से अर्ह धातु प्रशंसा के अर्थ में प्रयुक्त हुई है, यथा-'अर्हन् इह भवान् विद्याम्' (आप विद्या पढ़ने के योग्य हैं); 'अर्हन् इह भवान् पूजाम्' (आप सत्कार के योग्य हैं)। 'अर्ह प्रशंसायाम्' (अष्टा 3.2.133) में आचार्य पाणिनि का प्रशंसार्थक अभिप्राय है। भट्ट

हलायुध कोष में अर्ह् धातु से निर्मित अर्हन् पद के क्षपणकः; बुद्धः; जिनः; पारगतः; त्रिकालवित्; क्षीणाष्टकर्मा; परमेष्ठी; अधीश्वर; शम्भु; स्वयम्भु; भगवान्; जगत्प्रभुः; तीर्थङ्करः; तीर्थकर; जिनेश्वरः; वादी; अभयदः; सार्कः; सर्वज्ञः; सर्वदर्शी; केवली; देवाधिदेवः; बोधदः; पुरुषोत्तमः; वीतरागाप्तः; पूज्यः; मान्यः; स्तुत्यः; - इन पदों का भाव भगवान् महावीर से तो है ही किन्तु ये सब पद प्रशंसा के भी बोधक हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल में कवि कालिदास ने इस अर्हधातु का प्रयोग पूजार्थ में दर्शाया है-

"त्वमर्हतामग्रसरः स्मृतोऽसि नः"॥

प्रयोग-सामर्थ्य से ही यह धातु निन्दार्थ में भी प्रयुक्त मिलती है-यथा-"वधमर्हति चोरः"॥

ऋग्वेद में अर्ह् धातु के अर्हति, अर्हत, अर्हतः, अर्हन्ति, अर्हसि, अर्हथः, अर्हामसि, अर्हसे -ये सात रूप प्रयुक्त हुए है। लोक में यह धातु भ्वादिगणी होने पर परस्मैपदी है किन्तु ऋग्वेद में यह उभयपदी प्राप्त होती है।

एष इन्द्रो अर्हति पीतिमस्य ॥ ऋ0 2,14,2

ऋषिः गृत्समदः॥ देवता इन्द्र॥ इन्द्रदेव सोमपान के उपयुक्त पात्र हैं॥

वेंकटमाधव, सायण एवं स्वामी दयानन्द ने यहाँ अर्ह् धातु योग्यता के अर्थ में गृहीत की है[23]।

जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति॥ ऋ0 10.158.2

ऋषिः चक्षुः सौर्यः॥ देवता सूर्यः॥ "हे सविता, तुम्हारे तेज के लिये सौ यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिये"॥

वेंकटमाधव एवं सायण ने धात्वर्थ 'योग्य होना' दर्शाया है।[24]

सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति॥ ऋ0 10,85,34

ऋषिः सूर्या सावित्री॥ देवता सूर्या ॥ यह ऋचा सूर्या विवाह प्रकरण की है-"जो ब्राह्मण सूर्या को जाने वही वस्त्र पा सकता है"॥

भाष्यकार वेंकटमाधव एवं सायण ने यहाँ अर्ह धातु 'समर्थ होने' के अर्थ में व्याख्यात की है 25।

सोमानां प्रथमः पीतिमर्हसि॥ ऋ0 1.134.6

ऋषिः परुच्छेपः॥ देवता वायुः॥ "हे वायु ! तुम अभिषुत सोमपान प्राप्त कर सकते हो"॥

मन्त्र में वेंकटमाधव तथा सायण ने धात्वर्थ "समर्थ होना" लिया है 26।

स्वामी दयानन्द ने धातु का 'योग्य होना' अर्थ दर्शाया है27।

ये चार्हन्ति मरुतःसुदानवः स्मन्मीळ्हुषश्चरन्ति ये ॥ ऋ0 8,20,18

ऋषिः सोभरिः काण्वः॥ देवता मरुतः॥ "जो सुन्दर दान वाले यजमान मरुतों की पूजा करते हैं और जो इन सेचन-कर्ताओं को हव्य द्वारा पूजित करते हैं"॥

वेंकटमाधव तथा सायण ने मन्त्र में धातु का अर्थ "पूजा करना" लिया है[28]।

सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणम्।। ऋ010.77.1

ऋषि: स्यूमरश्मिर्भार्गव:।। देवता मरुत:।। "मरुतों के समान महान् दल की मैंने पूजा नहीं कि है"।।

उद्‌गीथ ने यहाँ सामर्थ्य से उपमार्थ में नकार मानते हुए अर्थ किया है, किन्तु धात्वर्थ 'पूजा करना' ही लिया है[29]। सायण को भी यही अर्थ अभिप्रेत है[30]।

अर्हामसि प्रमियं सान्वग्ने:।। ऋ04.55.7

ऋषि: विश्वदेव:।। देवता विश्वेदेवा:।। "हम अन्न को अनुष्ठानों के द्वारा संवर्धित कर सकते हैं"।।

वेंकटमाधव, सायण एवं स्वामी दयानन्द ने धात्वर्थ 'संवर्धन करना' लिया है[31]।

यह 'अर्हामसि' रूप उत्तमपुरुष बहुवचन के लट् लकार का है। वेद-विषय में 'मस्' (उत्तम पुरुष बहुवचन, लट्‌लकार)इदन्त (इत्-इकार, अन्त-अवयव वाला) हो जाता है, अर्थात् मस् को इक् आगम होता है[32]। इस नियम के अनुसार 'नमो भरन्त एमसि[33]; त्वमस्माकं तव स्मसि[34]; नहि नु यादधीमसि[35]; अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि36; इत्यादि अनेक क्रियाएँ उत्तम पुरुष बहुवचन लट् लकार की हैं।

एवं भाष्यकारों ने अर्ह् धातु का योग्यता, समर्थ होना, अनुष्ठान करना, पूजा करना, संबर्द्धन करना, व्याख्यात किया है। योग्यता, समर्थ होना, संबर्द्धन करना-ये प्रशंसा के अर्थों में हैं तथा अनुष्ठान करना, पूजा करना-ये सत्कार अर्थ के द्योतक हैं।

डॉ० सत्यदेव निगमालंकार
रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

प्रमाण एवं टिप्पणियाँ:-

1. निघ0 1,3; 3,17;
2. भ्वादि0 672
3. श0ब्रा0 1,4,1,40
4. त्वम् एवं अध्वरं चेच्छसि, यथाऽध्वर्युरध्वरं कामयते-वें0।।
   अध्वरीयसि अध्वरं यज्ञं कामयते। अध्वर्युर्भवसीत्यर्थ:- सा0।।
5. निरु0 यास्कभूमिका 7;
6. अध्वरीयसि आत्मनोऽध्वरमहिंसामिच्छति-दया0।।
7. यजमानो भूत्वा यजसि तथाऽध्वर्युरिव च आचरसि-वें0।।
8. अध्वरीयसि अध्वर्युरिवाचरसि। अथवान्यं यज्ञं कर्तुमिच्छसि-सा0।।
9. उणादि0 1,36

10. उणादि0 दयानन्दकृत् वृत्ति:1,36
11. द्र0 निरुक्त भाष्य यास्क-भूमिका, पृ0 44, प्रकाशक-आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला, दिल्ली
12. उषसां न केतवोऽध्वरश्रिय:।। ऋ0 10.78.7
13. ऊर्ध्वं कृण्वन्तु अध्वरस्य केतुम्।। ऋ0 3.8.8.
14. अर्ध्यन्ता यदुन्निनीथो अपारम्।। ऋ0 1.181.1
15. वृषणाध्वर्यू वृषभासो अद्रय:।। ऋ0 2.16.5
16. प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम्।। ऋ0 10.46.4
17. सम्राजन्तमध्वराणाम्।। ऋ0 1.27.1
18. जामयो अध्वरीयताम्।। ऋ0 1.23.16
19अर्ह पूजायाम्-भ्वादि0 492; चुरादि0 199; 256
20. संस्कृत धातुकोष:, प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत, हरयाणा
21. काशकृत्स्नधातुपाठ: भ्वादि0 323
22. काशकृत्स्नधातुपाठ: चुरादि0 168
23. क-सोऽयम् अस्य पानम् अर्हति-वें।। ख- अस्य सोमस्य पीतिं पानम् अर्हति-सावा
ग- अर्हति योग्यो भवित-दया0।।
24. क- बहून् सोमान् अर्हति-वें0।। ख- अर्हति योग्यं भवति-सा0।।
25. क- स: एव एतद् वधूवस्त्रम् अर्हति-वें0।। ख- यो ब्रह्मा ब्राह्मण: सूर्याम् इदानीं पुस्तुतां देवीं विद्यात् सम्यग्जानीयात् स इत् एव बाधूयं वधूवस्त्रम् अर्हति-सा0।।
26. क- प्रथममेव पानम् अर्हसि-वे:।। ख- पीतिं पानम् अर्हसि प्राप्नोषि-सा0।।
27. कर्तुं योग्योऽसि -दवा0।।
28. क- ये च स्तोत्तियम् अर्हन्ति-वें।।ख- मरुत: देवान् अर्हन्ति पूजयन्ति- सा0।।
29. किञ्च न ब्राह्मणम् अर्हसे पुरस्तादुपचारोऽपि अत्र सामर्थ्याद् उपमार्थे नकार:। ब्रह्माणं न यथा ब्रह्माणं प्राजापत्यम् अर्हसे पूजयसि-उद्0।।
30. अर्हसे पूजार्थं न अस्तोषि, नास्तौषम्-सा0।।
31. क-अर्हाम...वें0।। ख-अर्हामसि अर्हाम:, समर्थो भवाम:, किंत्वनुष्ठानेन संवर्धितुम् अर्हाम इत्यर्थ: - सा0 ।। ग- अर्हामसि योग्या भवाम:-दया0।।
32. इदन्तो मसि (अष्टा0 7.1.45)
33. ऋ0 1.1.7
34. ऋ0 8.92.32;
35. ऋ01.80.15;
36. ऋ0 8.21.6;

कादम्बरी - अतिद्वयी कथा

संस्कृत साहित्ये कवि कुलगुरुकालिदासो यथा रचनाचातुर्येण कल्पनावैचित्र्येण पद्यबन्ध गरिष्ठो वरिष्ठश्च मन्यते तथैव गद्यकाव्यनिबन्धने कविवर वाणः श्रेष्ठतमः। सः सर्वमूर्धाभिषिक्तः, असाधारण प्रतिभासम्पन्नः महामेधावी च आसीत्। गद्यकाव्य बन्धे गुणाढ्यस्य बृहत्कथा सुबन्धोश्च वासवदत्ता सुप्रसिद्धकथाकाव्यद्वयं वर्त्तते। अनयोः द्वयोःकथा काव्ययोः गौरवं सर्वैरेव संस्कृतज्ञैः ज्ञायते स्वीक्रियते च । महाकविः बाणभट्टः विश्वप्रसिद्धायां कादम्बर्यां मंगलाचरणात्मकेषु पद्येषु स्वगुरुणां, स्वपितुः, पितामहस्य, प्रपितामहस्य च महत्त्वं, गौरवञ्च गायति, तत्रैव महाकविः कादम्बर्याः श्रेष्ठत्वं प्रतिपादयन् निगदति-'धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा'। अस्याः सूक्तेराशयः सुस्पष्टः। अत्र वयं विचारयामः किं तद् वैशिष्ट्यं कि तत्कारणं, येन बाणभट्टः अन्यान् कवीश्वरान् अतिशेते। किं नास्ति कादम्बर्याम्[1] बाणस्य वर्णनेषु भाषा-भावयोः सामञ्जस्यम्, भावानुकूल भाषा प्रयोगः, अलंकाराणां सुसंयतो विनियोगः, भाषायाम् आरोह अवरोहौ, दीर्घतर समस्त पदावली प्रयोग समनन्तरमेव लघु पदावली प्रयोगो विशेषतोऽवलोक्यते।

बाणभट्टस्य काव्यसौरभेण आकृष्टाः आलोचकाः महाकवेः सूक्ष्मां निरीक्षण शक्तिं मनोहारिणीं वर्णनपद्धतिं अक्षयशब्द राशिं, मौलिकानाम् अर्थानां संहतिं दर्शं-दर्शं परमानन्दं विन्दन्ति।

धर्मदासोऽस्य कवेः वाण्यां मुग्धः जातः। स आनन्दसागरे निमज्जन् इत्थमाचष्टे-

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणि[1]? नहि नहि, वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

नूनं बाणस्य प्रतिभा अद्वितीया, तस्य कविता कौमुदी सर्वलोक प्रथिता अतः अनन्यसाधारणतया संस्कृत वाङ्मये विलसति अतितराम्। बाणभट्टस्य प्रशंसायामुक्तिस्तु एषा प्रसिद्धा एव-

बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।

तत्कारण पर्यालोचन प्रसङ्गे आचार्यवर्येण द्विजेन्द्रनाथेन प्रतिपादितम्-'वस्तुतः बाणवाणी कामपि अनन्य साधारणीं नैपुणीम् आविष्करोति न कदापि औचितीमतिक्रमते। अनुबध्नाति सर्वदैव उर्वरां कल्पनाम्। उपलक्षयति सूक्ष्म निरीक्षणधियम्। प्रकटयति लब्धावसरं विकट पद प्रयोगपाटवम्। उपलालयति पदलालित्यम्। ग्रथ्नाति गम्भीर भाव कुसुमस्तबकम्। व्यक्ति करोति प्रलम्बसमास व्यास वैदुषीम्। क्वचित्तर्जनं करोति अन्यत्र भर्त्सनम्, इतरत्र गर्जनम्। एकतः निर्दिशति, अन्यतश्च उपदिशति। सर्वत्र परिपुष्णाति भारतीय संस्कृतिम् अनुपालयति आर्यमर्यादाम्। धर्मं प्रबलयति, अवहेलयति अधर्मम्। किं किं न करोति सत्कवि समुचितमाखिलमेव।

कादम्बर्यां बाणस्य यथा काव्य कौशलं, प्रतिभा वैभवं, गद्यशैलीश्रियं न तथा अन्यस्य कस्यापि कवेः गद्यकाव्ये। अतएव साधूच्यते-

कादम्बरी रसभरेण समस्त एष मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्। प्रसन्नराघव

कारो जयदेवो बाणभट्टं कबिता-कामिनी-मनोमन्दिरवासिनं साक्षात् कामदेवमेव मनुते। तस्य कविता कामिनी सर्वमनोमोहिनी सर्व चित्ताकर्षिका च। उच्यते च-

हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः।
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥

बाणो रससिद्धः कवीश्वरः। शृङ्गारोऽस्य प्रेष्ठो रसः। महाश्वेता वर्णने तस्यां यौवन प्रवेशस्य एकावलीमूलकं वर्णन कथमिव मनोज्ञताम् उद्वहति-

क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव माधुमासेन मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन, नवयौवनेन पदम्।

बाणस्य वर्णन शैली तथा सुमधुरा, रसप्रधाना, गुणवती यथा एकदा कादम्बरी-पठने प्रवृत्ताय मानवाय आहारोऽपि न रोचते।

आदर्श-गद्यस्य ये गुणास्ते बाणेन स्वयमेव हर्षचरिते निरूपिता। तद्यथा-

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

एते सर्वेऽपि गुणाः तस्य गद्यकाव्ये सुस्पष्टरूपेण प्रतिभान्ति। विन्ध्याटवीं वर्णयन्नसौ पाञ्चाली रीतिमाश्रित्य विकटानेव शब्दान् ग्रथ्नाति, तत्रैव च श्लेषेन स्व पाण्डित्यमपि प्रकटयति-

'प्रेताधिपनगरीव सदा सन्नीहित मृत्यु भीषणा महिषाधिष्ठिता च, समरोद्यतपताकिनीव बाणासनारोपित शिलीमुखा विमुक्तसिंहनादा च, कात्यायनीव प्रचलितखङ्ग भीषणा रक्तचन्दनालङ्कृता च, ... क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरण्मिण्डला, क्वचिद्दशमुख नगरीव चटुलवानरवृन्द भज्यमान तुङ्गशाला कुलाशाल्मली तरूवर्णयन् श्लेषेन चमत्करोति चेतांसि सचेतसाम्-

"दुर्योधन इवोपलक्षित शकुनिपक्षपातः, नलिननाथ इव वनमालोपगूढः, नव-जलधर व्यूह इव नभसि दर्शितोन्नतिः, अखिल भुवनतलावलोकन प्रसाद इव वनदेवतानाम्, अधि पतिरिव दण्डकारण्यस्य, नायक इव सर्ववनस्पतीनाम्, सखेव विन्ध्यस्य, शाखाबाहुभिरूपगुह्येव विन्ध्याटवीं स्थितो महाञ्जीर्णः शाल्मलितरूः। अनुप्रास विन्यासोऽप्यस्य चमत्कारपूर्णः -

"इभकलभ कल्लोलपल्लव वेल्लित लवलिलयैः मधुकर कुलकलङ्क कालीकृत कालेयक कुसुम कुड्मलेषु।

सन्ध्यावर्णने उत्प्रेक्षा माधुर्यम् आनन्दयति सचेतसां चेतांसि। यथा-

क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या मुनिभिरदृश्यत। अपराम्भसि पतिते दिनकरे अम्भः सीकरनिकरमिव तारागणम् अम्बरम् अधारयत्।

शुकनासोपदेशे विरोधाभासमूलकं लक्ष्मी स्वभाव वर्णनम् दर्शनीयं वर्तते यथा-

उन्नतिमादधानापि नीचस्वभावताम् आविष्करोति। अमृतसहोदरापि कटुकविपाका।

विग्रहवत्यपि अप्रत्यक्षदर्शना। पुरुषोत्तमरताऽपि खल जनप्रिया।

तत्रैव प्रसादगुणोपेता पदावल्यपि अतीव प्रशंसनीया वर्तते। यथा- न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुल क्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति। न श्रुतमाकर्णयति।

महाकवेरस्य परिसंख्याश्री विलोक्यताम् तारापीडवर्णन प्रसंगे-

यस्मिंश्च राजनि गिरीणां विपक्षता, प्रत्ययानां परत्वम्, दर्पणानाम् अभिमुखावस्थानम्, शूलपाणिप्रतिमानां दुर्गाश्लेषः, जलधराणां चापधारणम्, प्रतीहाराणाम् असिधारणम्, तैक्ष्ण्यमसिधाराणाम्, ध्वजानामुन्नतिः, करिणां दानविच्छित्तिः, अक्षक्रीडासु शून्यगृहदर्शनं पृथिव्यामासीत्

बाणभट्टः प्रकृतिसौन्दर्यचित्रणेऽद्वितीयः। कर्णगोचरी क्रियताम् सरोवरस्य रामणीयकत्वम्- 'मणिदर्पणमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्याः, स्फटिकभूमिगृहमिव वसुन्धरा देव्याः, निर्गमन मार्गमिव सागराणाम्, निष्यन्दमिव दिशाम्, कैलाशमिवद्रवतामापन्नम्, तुषारगिरिमिव विलीनम्, चन्द्रातपमिव रसतामुपेतम्, हराट्टहासमिव जलीभूतम्।

कादम्बर्यां यथा रसानां मन्दाकिनी अलंकाराणां मञ्जुला छटा, प्रकृतेः रमणीयता भावानां सान्द्रता, सरसता, ओजप्रसादमाधुर्यादि गुणानां विच्छित्तिः, तथैव राजनीतेः, धर्मस्य, संस्कृतेश्च मनोहराणि वर्णणानि पदे-पदे दृष्टिपथमुपयान्ति।

डॉ. वीना अग्रवाल
२२, नन्द विहार, हरिद्वार

''श्रीमद्भगवद्गीता- एक आचार संहिता भी''

इस महामोहमायामय असार संसार में मानव जीवन बड़ा दुर्लभ है, जिसे पाने के लिए देव लोग भी तरसते हैं, नरत्वं दुर्लभं लोके। यह मानव जीवन साधनधाम एवं मोक्ष-प्राप्ति का द्वार है। मनुष्य जीवन में अपने इसी पार्थिव शरीर से धरा पर धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष - इन 4 पुरुषार्थों की सिद्धि करता है। इनमें मोक्ष तो सभी पुरुषार्थों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अज्ञान से जीव संसार में बंधकर 84 लाख योनियों में भटकता हैं। परन्तु तत्वज्ञान से उसे मोक्ष या ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति सुकर होती है। जिस तरह पतवार के बिना नाव भटक जाती है, वैसे ही मनुष्य लक्ष्य के बिना पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

मानव जीवन का उद्देश्य भोगवादी नहीं है। 'खाओ पीओ और खुश रहो' चार्वाक की यह दृष्टि जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं, अन्यथा मनुष्य भोगों के जाल में फंसकर रुग्ण होकर नरक के गर्त में जा गिरेगा, जहाँ उसे कठोर यम-यातनाएं सहनी पड़ेगी।

इस संसार परिधि में प्रादुर्भूत जीव कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं। उसे अपनी इच्छानुसार मार्ग चुनने का अधिकार नहीं। जैसे सड़क पर बायें चलने एवं चतुष्पथ पर चारों ओर देखकर सड़क पार करने का निर्देश होता है, इसी तरह भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में मनुष्य को मोक्ष पाने के लिए आचार-सँहिता के अनेक नियम निर्दिष्ट किये हैं, जिनका सम्यक् आचरण करके मनुष्य अज्ञान-बन्धन से निवृत्त होकर मोक्ष सुख की अनुभूति करता है।

शास्त्र आचार सँहिता के पालन का निर्देश सर्वदा पुरुष से कराता है, 'शासनात् शसनात् का शास्त्रमित्यभिधीयते।'

इसी दिशा में गीता संसार के मनुष्यों को निर्देश देती है कि 'यज्ञ, दान, तपादि नित्य कर्म हैं, इन्हें प्रतिदिन करना चाहिए। इन्हें कभी त्यागना नहीं चाहिए। क्योंकि ये कर्म जीवों के अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले हैं।

''यज्ञदान तपः कर्म, न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।। -गी0 18/5

'दृष्ट, अदृष्ट सभी फल वाले कर्मों को मुझ वासुदेव में समर्पण करके मुझ वासुदेव में निरन्तर अपना चित्त लगाओ।'

मच्चितः सततं भव। 18/57

गीता कहती है कि संसार के सभी क्लेशों का नाश करने के लिए मन, वाणी और शरीर द्वारा सब प्रकार से ईश्वर का आश्रय ग्रहण करो, पुनः विष्णु के परम धाम को प्राप्त करोगे।

''तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।'' -18/ 62

गीता कहती है कि मुझमें अपना मन लगाओ, मेरा भजन करो, मेरा पूजन करो, मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार तूँ मुझी को प्राप्त होगा।

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिज्ञाने प्रियोऽसि मे ॥'

अन्त में भगवान् श्री कृष्ण कहते है कि सभी धर्मों का त्याग करके तू एक मात्र मेरी शरण को प्राप्त हो, मैं तेरे को सभी धर्म अधर्म से मुक्त कर दूँगा।[2]

''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्व पापेम्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥'' - 18/66

गीता के अनुसार जो मनुष्य अनन्य भाव से श्री कृष्ण की उपासना करते हैं, भगवान् उनके योग-क्षेम को स्वयं वहन करते हैं।

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

.... योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ -9/ 22

गीता ने शुभ आचरण वाले, भगवान् के प्रिय भगवद्भक्त का लक्षण निम्न प्रकार संकेतित किया है-

'संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ -12/ 14

अनपेक्षः शुचिदर्क्षः उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ -12 / 16

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी। -12 / 13

जो लोक से द्वेष नही करता, जो हर्ष, क्रोध, भय, उद्वेग से रहित है।[1] जो न शोक करता है, न इच्छा करता है, शुभ अशुभ की चिन्ता से रहित है।[2]

भगवद्भक्त को शत्रु, मित्र, मानापमान, शीतोष्ण, सुख-दुःख में समभाव रखना चाहिए।

''समः शत्रौच मित्रे च''[3]

श्री कृष्ण का प्रिय बनने के लिए निन्दास्तुति में तुल्य, मौन, संतुष्ट, निवास में ममत्व रहित, स्थिर बुद्धि वाला होना चाहिए।[4]

गीता भक्त से अनुरोध करती है- तुम श्री कृष्ण में अपने मन को स्थिर करो, उनमें निश्चय करने वाली बुद्धि को स्थिर करो।[5]

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अंत ऊर्ध्वं न संशयः॥ १२/८

मनुष्य को अपने किये सारे कर्म- भोजन, हवन, दान, तप आदि ईश्वर को अर्पित करने चाहिए अर्थात् ब्रह्मार्पण बुद्धि से सांसारिक कार्य करने चाहिए।

''यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुस्व मदर्पणम्''[1]

गीता अर्जुन के माध्यम से संसार के समस्त मानव प्राणियों को उनका कर्तव्य निर्देश करती है-

"तू हर समय वासुदेव का स्मरण कर और शास्त्रानुसार अपना धर्म रूप युद्ध करो।" इस प्रकार श्री कृष्ण में मन और बुद्धि अर्पित करके तू भगवान् के स्वरूप को ही प्राप्त होगा।[2]

"तत्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैण्यस्यसंशयः॥

गीता कहती है कि भक्त को जो कुछ मिल जाए, उसी से संतुष्ट रहे, शीतादि द्वन्द्वों से परे हो, ईर्ष्यारहित बुद्धिवाला हो, सिद्धि-असिद्धि में समान हो।

"यदृच्छालाभसंतुष्टः द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिध्दावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते"४/११॥

गीता कहती है कि तुम सुख-दुःख को समान समझो, लाभ-हानि, जय पराजय को समान समझो, इस प्रकार तुम युद्ध रूप कर्तव्य के लिए चेष्टा करो, ऐसा करने से तुम्हे पाप नहीं लगेगा।

"सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौजयाजयौ।
ततौ युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २/३८

गीता कहती है कि तुम्हारा कर्मो के आचरण में ही अधिकार है, कर्मो के फल में कदापि नहीं, XXX सब कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नही होनी चाहिए।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
.................मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" -2/47

भगवान् श्री कृष्ण के माध्यम से गीता अर्जुन से कहती है-हे अर्जुन, आसक्ति त्याग कर योगमें स्थित होकर कर्म करो, सिद्धि -असिद्धि दोनो में समभाव रक्खो, समता धारण करना ही योग है।

"योगस्थः कुरु कर्माणि, सगं त्यक्त्वा धनन्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योगउच्चते" २/४८॥

गीता कहती है कि साधक भक्त समत्वयोग विषयक बुद्धि से युक्त होकर अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान प्राप्ति के लिए पुण्य एवं पाप दोनो को यहीं त्याग देता है एवं कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। अतः समत्व बुद्धि रूप योग की प्राप्ति के लिए यत्न करो।[2]

"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्" २/५०॥

अतः गीता की इस आचार संहिता को अपने आचरण में धारण कर मनुष्य अपना आत्यंतिक कल्याण प्राप्त कर सकता है। भगवान् श्री कृष्ण के इस आचार संहिता के पालन से विश्व का मानव समुदाय अकर्मण्य एवं अवसादग्रस्त होने से बच जायेगा। उसका ऐहिक और पारलौकिक कल्याण होगा। इस प्रकार उपभोक्तावादी संस्कृति वाले विदेश से त्यागमयी संस्कृति वाला हमारा भारत देश सदैव गौरवास्पद रहेगा।

-डॉ० शिवशंकर गुप्त
रीडर-संस्कृत विभाग टी.डी. कॉलेज, जौनपुर (उ.प्र.)

उपनिषदों में योग अवधारणा

प्राचीन काल से ही भारत में योग को मुक्ति का साधन माना जाता रहा है, इसलिए प्राचीन ग्रन्थों और सभ्यताओं में इसका महत्वपूर्ण स्थान दिखाई पड़ता है। जिस तरह भारतीय दर्शन में वेदान्त का उच्च स्थान रहा है उसी के अनुरूप योग भी है। इतनी सुदृढ़ और महत्वपूर्ण साधना-प्रणाली होते हुए भी आज तक इसकी स्थिति आलोच्य ही रही है। कारण यह है कि योग प्रणाली की शुरूआत कब और कहाँ हुई यह बताना असम्भव है इसलिए इसकी विशालता कम है। इस पर विचार प्रकट करते हुए श्री क्षिति मोहन कहते हैं, ''कुछ लोगों की राय में योग वेदपूर्व साधना प्रणाली है। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई से कुछ ध्यानस्थ मूर्तियाँ आदि मिली हैं, उनके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि आर्यो ने यह विद्या अनार्यो से सीखी। उनकी दृष्टि में सिन्धु-प्रदेश की सभ्यता आर्यपूर्व सभ्यता थी और उस प्रदेश के निवासी आद्य योगी थे।''[1] श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'कुछ लोगों की इस सिद्धान्त में आस्था नहीं है। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि वैदिक युग में योग साधना कोई अपरिचित साधना नहीं थी। वेदों की ऋचाओं का साक्षात्कार वेदर्षियों ने सामान्य मानसिक धरातल पर निश्चय ही नहीं किया होगा, मंत्र साक्षात्कार के लिए उन्हें उच्चतम मानसिक भूमिका का आश्रय लेना पड़ा होगा और उसकी उपलब्धि में योग साधना की सहायता अवश्य रही होगी।'[2] डॉ0 एस0पी0 आत्रेय द्वारा लिखित पुस्तक योग मनोविज्ञान के प्राक्कथन में डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि ''वैदिक युग में जब ऋषियों ने ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में अन्वेषण किया तभी उन्हें योग-विद्या की आवश्यकता प्रतीत हुई। वस्तुतः कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वैदिकमन्त्रों की रचना योग के अभ्यास की उच्चतम भूमिकाओं का परिणाम है। जिसे पांतञ्जलि ने 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा है, वह 'ऋत्' विश्व के उन प्रथम धर्मो की संज्ञा है जिससे प्रजापति सृष्टि का विधान करते हैं, समष्टि और व्यष्टि दोनों ही उसके परिणाम है। वस्तुतः 'ऋत्' से अनुप्रविष्ट मानवचित्त ही योग की उपलब्धि है। मानव का मन ब्रह्म रूप ऋत् से संयुक्त हो जाता है उसी ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति में विश्व को जिन सत्यों का दर्शन होता है वे वैदिक मन्त्रों में प्रकट हुआ है। कोशों के अनुसार वैदिक मन्त्रों का अर्थ पर्याप्त नहीं है। मनः समाधि उच्चतम भूमिका में मन्त्रों का दर्शन होता है।[3]

योग-दर्शन का साहित्य अन्य भारतीय दर्शनों की तरह विशाल नहीं है, परन्तु यह एक अत्यन्त वैज्ञानिक और व्यावहारिक दर्शन है। वेदों से लेकर मध्यकालीन सन्त साहित्य तक योग वर्णन किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। डॉ0 बी0एन0 सिंह के अनुसार, ''योग का अल्प साहित्य होते हुए भी यह भारतीय दर्शन का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है, इसका प्रचार-प्रसार बहुत है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसकी अपनी विशेषता यह

है कि यह सैद्धांतिक ही नहीं बल्कि व्यावहारिक भी है। शारीरिक तथा मानसिक दोनों की इसके प्रतिपाद्य विषय है।''[4]

संस्कृत साहित्य में योग शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थो में हुआ है। ऋग्वेद में कहा गया है कि योग के बिना विद्वान् का कोई भी यज्ञ-कर्म सिद्ध नहीं होता।[5] अमर कोष के अनुसार 'संनहन, उपाय, ध्यान, संगति और युक्ति को योग कहते है।[6] कहा जाता है कि प्राचीन भारत में युद्ध के लिए योद्धाओं का संनहन-सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने, हथियार उगने के लिए योगोयोग: ऐसी पुकार होती थी। वैद्यक के अनुसार, 'रोग दूर करने के उपाय को भी योग कहा जाता है।[7] द्रव्य शास्त्रों में अपूर्वार्थ-संप्राप्ति, वपु: स्थैर्य-प्रयोग, विष्कंभ, भेषज, विश्रब्धघातक, द्रव्योपाय, कार्मण आदि भी योग शब्द के समानार्थक माने जाते हैं।[8] ऋग्वेद् में योगे शब्द अप्राप्त की प्राप्ति, सम्बन्ध, जुआ जीतने के अर्थ में हुआ है।[9] देवीभागवत में योग शब्द 'प्रेम' के अर्थ में माना गया है।[10] मनुस्मृति में योग का अर्थ 'छल' लिया गया है।

पाणिनि व्याकरण में योग शब्द 'युज्' धातु से माना गया है। इस व्याकरण में इसके तीन पाठ मिलते हैं-युजिर् योगे[12], युज् समाधौ[13] तथा युज् संयमने[14]। इसमें समाध्यर्थक 'युज्' धातु अकमर्क हें और अन्य दो सकर्मक है। भट्टोजिदीक्षित कौमुदीकार ने समाधि का अर्थ चितवृत्ति का निरोध किया है: समाधिश्चित्तवृतिनिरोध:[15]। जबकि पातञ्जलि ने योग की परिभाषा 'योगश्चितवृत्तिनिरोध:[16] बताई है। इससे स्पष्ट है कि योग समाधि का अपरपर्यायवाची शब्द है और धातु की अकर्मक क्रिया की ओर संकेत भी है। योग से जिस एकाग्रता तथा विरत-व्यापारान्तरता का बोध होता है उसकी सिद्धि इसी अर्थ से सम्भव है, क्योंकि समाधि में मनुष्य विगलितवेद्यान्तर रहता है। इस आधार पर अष्टाध्यायी में योग की परिभाषा,''युज्यते समाधौ विधीयते मन: अनेन इतियोग:'' बताई है।[17] उपर्युक्त परिभाषा से योग शब्द दो प्रकार से निष्पन्न होता है, 'युजिर् योगे' यह सम्बन्धवाचक है तथा 'युज् समाधौ' यह समाधिवाचक है।

याज्ञवल्क्य ने जीव और परमात्मा के मेल को ही योग कहा है।[18] इसी प्रकार शाक्त मत में भी कहा गया है कि योग वह क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की चेतना ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है।[19] गीता में कहा गया है कि देहयुक्त जीवन में दु:ख का संयोग होता है उसका जो वियोग है वहीं योग है। इसी योग में आत्मा अपनी दिव्य स्थिति की प्राप्त करता है।[20]

आधुनिक विचारक जैसे हिरियान्ना[21] डा0 राधाकृष्णन्[22] ने चितवृत्तियों का निरोध एवं आत्मा परमात्मा के मेल का समर्थन किया है। डॉ0 बी0 जी0 रेले ने योग के बारे में कहा है ''योग वह विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य का अन्त:करण इस योग्य बन जाता

है कि वह उच्च स्फूरणों की ओर अग्रसर होता हुआ असीम चेतन व्यापार को प्राप्त करता है।''[23] योग की सरल परिभाषा दास गुप्त ने देते हुए कहा है ''योग का अर्थ है किसी वस्तु-विशेष के साथ चित का शांतिमय संयोग।[24]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिक विचारधारा में योग का विशिष्ट स्थान रहा है। यहाँ पर योग शब्द का अर्थ संख्या का जोड़ना नहीं बल्कि आत्मा-परमात्मा के मेल को माना गया है। यही कारण है कि आत्मा-परमात्मा के मिलन के भिन्न आधारों पर अलग-अलग योगों का वर्णन किया गया है जैसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग अर्थात् जहाँ भी आत्मा-परमात्मा का मिलन सम्भव हो सका उसी को भारतीय दार्शनिकों ने अपना कर योग का नाम दे दिया। पातञ्जलि के योग की भारतीय दर्शन में अलग ही विशेषता है जिस कारण उसे ''राजयोग'' का नाम दिया है। योग की परिभाषा बताते हुए पातञ्जलि ने अपने ''योग शास्त्र'' में कहा है कि ''चितवृत्तियों का निरोध ही योग है'' (जैसा कि पीछे बताया जा चुका है)। आगे बताते हैं कि साधारणतः चितवृत्तियाँ पांच प्रकार की होती है प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति।[25] जब व्यक्ति इन वृत्तियों को संयमित कर लेता है तो योग-साधना का श्री गणेश माना जाता है। यदि इनके योग साधना के व्यावहारिक पक्ष को देखें तो पता चलता है कि इसमें पहला कदम ''क्रिया योग'' है जिससे कि योगी में तप, स्वाध्याय और कर्मफल के ईश्वरार्पण की भावना होनी जरूरी है।[26] यहाँ व्यक्ति का पहला कर्तव्य है कि वह अविद्या, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, घृणा आदि को त्यागें[27] तभी वह यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), नियम, (शौच, संतोष, तप,स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की तरफ और अग्रसर हो सकता है।[28] इसी योग से भारत के कुछ सम्प्रदाय जैसे नाथ, सिद्ध, तान्त्रिक आदि ने हठयोग को अपनाया परन्तु वे राजयोग से वंचित रहे। भारत में ऋषि-मुनियों ने अपने-अपने आत्मसाक्षात्कार के अनुसार योग का वर्णन किया है लेकिन उपनिषदों में जैसा योग का वर्णन है ऐसा अन्यत्र नहीं है क्योंकि उपनिषदकारों ने व्यावहारिकता और अध्यात्म दोनों का समावेश किया है जिस कारण उपनिषदों में वर्णित योग उच्चता को प्राप्त होता है।

उपनिषदों में योग अवधारणः-

उपनिषद का अर्थ (उप+नि+सद्) गुरु के पास बैठकर सत्य वचनों को ग्रहण करना है। प्रमुख उपनिषदों की संख्या दस मानी गई है। इनमें केवल ब्रह्म साक्षात्कार हेतु ज्ञान को ही महत्व दिया गया है। विद्वानों का मत है कि उपनिषदों की संख्या दस न होकर 108 है। उपनिषदों को दो भागों में बांटा गया है। प्रथम दस को पूर्ववर्ती तथा अन्य परवर्ती उपनिषद् कहा गया है। परवर्ती उपनिषदों में योग का अत्यधिक वर्णन किया गया है। जिस

कारण विद्वानों ने इन्हें 'परवर्ती योग उपनिषद्' कहा है।

उपनिषदों में योग विचारधारा का अपना विशेष स्थान है। इनकी प्राणोपासना ही प्राणायाम की आधारशिला है। प्राणोपासना में प्राणायाम का विषेष महत्व है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि, 'जो प्राण को ऊपर ले जाता है और अपान को नीचे हृदय के मध्य रहने वाले उस प्राण की सभी देवता उपासना करते हैं।'[29] इसी में यम-नचिकेता संवाद में योग के बारे में कहा गया है कि 'सम्पूर्ण योग विधि को जानों'। फिर बताया गया है "जो कठिनता से दीख पड़ने वाला गुह्य स्थान में रहता है, बुद्धि में स्थिर रहने वाले ऐसे पुरातन को अध्यात्म योग द्वारा ही जाना जा सकता है तथा उसे वही पुरुष जान सकता है जिसकी बुद्धि स्थिर है, धीर है। जब उसे जान किया जाता है तो वह पुरुष सभी हर्ष-शोक से मुक्त हो जाता है।"[30] यह शरीर नित्य, विज्ञान स्वरूप अजन्मा पुर है, इसके ग्यारह दरवाजे हैं उन पर ध्यान करने पर जीव को ज्ञान प्राप्त होता है। और मुक्ति भी।[31] इसी उपनिषद् में प्राणायाम का भी विवेचन मिलता है।[32] परमगति (मोक्ष) का वर्णन करते हुए कहा गया है। कि 'जब जीव की पांचों इन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती है। बुद्धि कार्यकलापों से परे हो जाती है, तो इस अवस्था में पुरुष प्रमाद रहित हो जाता है, जो कि योग के द्वारा ही सम्भव है।[33] इसी में लय योग (कुण्डिलिनी) का भी वर्णन मिलता है।' जब नाड़ी मूर्धा का भेदन करती हुई सुषुम्णा द्वारा ऊपर चली जाती है तो पुरुष अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।'[34] इसी योग विद्या द्वारा नचिकेता ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।[35]

माण्डूक्य तथा मुण्डक उपनिषद में ओंकार की उपासना का वर्णन किया गया है। कहा गया है 'जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे लगे होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण नाड़ियाँ सुषुम्ण में एकत्रित होती है। ॐ नाम का ध्यान करने पर उनमें दो तरह से संचरण होता हैजो जीव को अमरत्व की ओर ले जाता है।'[36] बृहदारण्यक्योपनिषद् में कहा गया है 'यदि पुरुष मन और इन्द्रियों काबू कर ले तो वह समाधि की ओर अग्रसर होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद्[37] तथा छान्दोग्योपनिषद् में भी बताया गया है कि जिस व्यक्ति ने मन वचन, कर्म को संयमित कर लिया है वह आत्मा को जान लेता है। मैत्रायणी उपनिषद् में षडांगयोग (प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि) का वर्णन किया गया है।[38] फिर कहा गया है। कि व्यक्ति प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा अन्तर्मुखी होकर औंकार को ध्यानावस्था करके, प्राणों को धनुष बनाकर ब्रह्म को वेध सकता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ध्यानयोग का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने योग (षडांग) द्वारा आत्मा को जान लिया वह हर्ष शोक से परे है उसे मृत्यु कभी भी नहीं आ सकती अर्थात् यही मोक्ष है।[39] फिर आगे कहा गया

है कि 'जिस प्रकार सारथि लगाम खींच कर घोड़ों को काबू करता है, उसी प्रकार योगी भी अपनी इन्द्रियों पर काबू पाता है, इस योग के लिए ओंकार जाप अत्यावश्यक है।[40] इसी उपनिषद् में योगी के योगाभ्यास तथा ध्यान हेतु उचित स्थान के बारे में बताते हुए कहा गया है कि 'योगी के लिए वही भूमि उतम है जो समतल हो, जल पर्याप्त मात्रा में हो और अग्नि का डर न हो। ऐसे स्थान पर योगी प्राणायाम साधना द्वारा मन को नियन्त्रित करके तप को प्राप्त होता है। जब योगी तप द्वारा मन को नियन्त्रित कर लेता है तो उसे ब्रह्म-संयोग का अनुभव होता है, तब वह नवद्वार का ज्ञान प्राप्त करके हंस रूपी आत्मा को जान लेता है।'[41] इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषद् काल में ब्रह्म, आत्मा आदि के लिए प्रतीकों का प्रयोग होने लगा था।

परवर्ती योग उपनिषदों में योग अवधारणाः-

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त परवर्ती उपनिषद् भी अवलोकित हैं। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय योग ही रहा है इसलिए इन्हें 'योगोपनिषद्' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। डॉ0 पाल डायसन ने इन्हें चार भागों प्राचीन गद्य, उपनिषद्, छन्द उपनिषद्, परवर्ती गद्य, उपनिषद् और आद्यवर्ण उपनिषद् में बांटा है।[42]

शिखोपनिषद् सबसे उत्तम तथा महत्वपूर्ण योग उपनिषद् माना गया है। इसमें मन्त्र, लय, हठ तथा राजयोग का वर्णन किया गया है।[43] इन योगों के बारे में कहा गया है कि इन चारों योगों की अपनी अपनी भूमिका रही है। जब इनकी भूमिकाएं परस्पर कार्य करती हैं तो 'महायोग' कहलाता है। कहा गया है कि सूर्यनाम दक्षिण स्वर का है तथा चन्द्रमा नाम वाम स्वर का है, जब दोनों में समानता होती है तो 'हठयोग' कहलाता है।[44] जब हंकार के द्वारा श्वास बाहर और सकार के द्वारा अन्दर जाती है, इस प्रकार से 'हंस' मन्त्र का जाप करते रहना चाहिये, परन्तु इसके साथ-साथ गुरु वाक्यों को भी महत्व देना चाहिए। जब यह जप 'सोऽम्' का रूप धारण कर लेता है वह 'मन्त्र योग' कहलाता है, इसे 'अनहदनाद' भी कहा गया है।[45] अनहदनाद द्वारा सुषुम्णा का मार्ग खुल जाता है और चित स्थिर हो जाता है तथा ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है। राजयोग के बारे में कहा गया है जहाँ रज और रेतस् का योग हो उसे 'राजयोग' कहते हैं।[46] राजयोग के लिए हठ योग का अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है' इसके बिना राजयोग की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए हठयोग को राजयोग के लिए प्रथम सीढ़ी माना गया है। पं0 गोपीनाथ कविराज के अनुसार, "हठयोग से सम्भवतः राजयोग का विकास होता है, जबकि कुछ लोग हठयोग और राजयोग को अलग-अलग मानते हैं।[47] जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर षट्-चक्रों का भेदन करती हुई सहस्र में स्थित परमशिव में लय हो जाती है। तब इसे लय योग (कुण्डिलीनी योग) कहा जाता है। शिखोपनिषद् में बन्धों तथा वैखरी, खेचरी मुद्राओं का

भी वर्णन किया गया है। इसी तरह का वर्णन योग कुण्डुल्युपनिषद् में भी मिलता है। परन्तु इस उपनिषद् में आसानी से हो जाने वाले आसनों पर जोर दिया गया है। नादबिन्दु उपनिषद् में प्रणवोपासना तथा नादानुसंधान पर अधिक जोर दिया गया है। ॐ का वर्णन करते हुए इसमें कहा गया है कि प्रणव रूपी पक्षीराज का 'अ' कार दक्षिण पक्ष, 'ऊ' कार वामपक्ष, 'म' कार पूंछ, अर्धमात्रा उसका मस्तक है, गुण (रज,तम,सत) उसके शरीरांग आदि हैं। प्रणव पक्षीराज को जानते वाला मुक्त पुरुष है।[48] पुरुष वैष्णवी मुद्रा में बैठकर दक्षिण कान से नाद को सुने। जब उसे यह नाद अनेक प्रकार से सुनाई देने लगे तब वह वहाँ-वहाँ अपने चित को स्थिर करें। स्थिरभूत होकर सभी चिन्ताओं से मुक्त हो और मन को उस नाद में लय कर दे इस प्रणव में जब चित स्थिरासन हो जाये तो परमपद की प्राप्ति होती है।[49] ध्यान बिन्दु उपनिषद् में प्रणव ॐ को निःशब्द परमपद माना गया है। इस परम पद शब्द को जो जानता है वही मुक्त पुरुष है। इसमें षडांग योग के महत्त्व को भी दर्शाया गया है। इसमें 'अ' में अग्नि, 'उ' में अन्तरिक्ष 'म' में द्यौः का लय है। इसके अन्तर्गत तीन गुण (रज, तम, सत्) तीन स्थान जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का वर्णन किया गया है। जब ये उपर्युक्त तीन गुण और स्थान मिलते हैं तो शरीर में इच्छा (भाव), ज्ञान, क्रिया की अभिव्यक्ति होती है।[50] प्रश्नोपनिषद् की तरह कहा गया है कि प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण तथा ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर भेदा जाये तो जीव मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। सभी देवता आदि इसी प्रणव से ही पैदा होते हैं। यही इस जगत् का नियन्ता है।

योगतत्वोपनिषद् में मन्त्र, हठ, लय और राजयोग का विस्तृत विवरण दिया गया है। जो इन चारों को जानता है वही मुक्त पुरुष है।[51] इसमें ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि का विस्तृत वर्णन करते हुए ज्ञान एवं योग को विशेष महत्व दिया है।[52] फिर इसमें सगुण-निर्गुण दो प्रकार का ध्यान बताया गया है। उठते-बैठते, खाते-पीते ईश्वर का ध्यान करते हुए उस परम पद प्रणव को नहीं भूलना चाहिए।[53] योगचुड़ामणि उपनिषद् में योग के छः अंग आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, ध्यान, धारण, समाधि का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि जो व्यक्ति षट् चक्र, सोलह आधार, पंचभूत को नहीं जानता वह इस योग के बारे में अनभिज्ञ रहेगा। व्यक्ति गायत्री मंत्र जाप करता हुआ 'सोऽहं' जाप द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत करके मोक्ष द्वारा खोलता है।[54] इस उपनिष्द्द् में प्रणव के जाप के साथ मुद्राओं तथा बन्धों पर भी जोर दिया गया है।

तेजबिन्दु उपनिषद् योग दर्शन में अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें योग के 15 अंग यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक् स्थिति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि बताये गये हैं।[55] यम के बारे में कहा गया है कि ब्रह्म ज्ञान के लिए इन्द्रियों का संयम ही यम है। यम के लिए योगी को अभ्यास की

अति आवश्यकता है।[56] जो योग के अनुरूप है वह ग्राह्य है जो अनुरूप नहीं त्याज्य है उसे नियम कहा गया है।[57] फिर कहा गया है। कि पुरुष 'अहं ब्रह्माऽस्मि का जाप करे तो उसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है।[58]

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त छोटे-2 योग उपनिषद् भी मिलते हैं। अमृतोनाद उपनिषद् में योग के छः अंग प्राणायाम, प्रत्याहार, तर्क, धारणा, ध्यान, समाधि का वर्णन किया गया है। इनमें प्रथम पांच समाधि के लिए सहायक है।[59] इसी प्रकार दर्शनोपनिषद् में दतात्रेय अपने शिष्य संस्कृति को यम, नियम, आसन, देह नाड़ी, प्राणायाम का उपदेश देते हुए योग की व्याख्या करते हैं। महावाक्योग उपनिषद् में शिखोपनिषद् की 'हंस' विद्या का ही वर्णन किया गया है। वराहोपनिषद् में पहले कुछ अध्यायों में ज्ञान की चर्चा की गई है बाद में हठ, लय, मन्त्र योग आदि के बारे में बताया गया है। क्षुरिकोपनिषद् में प्राणायाम की क्रियाओं रेचक, कुम्भक, पूरक का वर्णन करके इड़ा पिंगला, सुषुम्णा का विवेचन किया गया है। महामण्डल उपनिषद् ब्राह्मणोपनिषद् तथा शांडिल्य उपनिषद् में पातञ्जलि के अष्टांग योग का ही वर्णन मिलता है, परन्तु पाशुपत उपनिषद् में पाशुपत योग का विवेचन है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में योग-प्रणाली अत्यन्त प्राचीन, व्यवस्थित तथा व्यवाहारिक है। इसलिए यहाँ केवल योग को ब्रह्म से मिलने तक ही सीमित नहीं रखा गया है। बल्कि एक व्यावहारिक प्रक्रिया के अन्तर्गत रखते हुए समाज उत्थान का लक्ष्य भी सामने रखा है। जब मानव शारीरिक और मानसिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट होगा वही योग का अधिकारी है। जब वह इन उपर्युक्त दृष्टियों से हृष्ट-पूष्ट है तो समाज अपने आप ही उन्नति की तरफ अग्रसर होगा। यदि हम योगी की आध्यात्मिक और व्यवहारिकता को स्पष्टतः देखना चाहते हैं तो पातञ्जलि अष्टांग योग में पूर्णता पाते हैं।

डॉ० रोहतास कुमार, पी० एच० डी०, डी०लिट्
व्याख्याता (दर्शनशास्त्र)
राजकीय महाविद्यालय आदमपुर, हिसार (हरियाण)

सन्दर्भः-

1. श्री क्षितिमोहन सेन, कल्याण (योगांक),पृ0 298
2. श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, वही पृ0 425
3. डॉ0 एस0 पी0 आत्रेय, योग मनोविज्ञान, पृ0 264
4. डॉ0 बदरीनाथ सिंह, भारतीय दर्शन, पृ0264
5. ऋग्वेद, 1/18/7

6. अमर कोश, 3/3/22
7. कल्याण (पूर्वोक्त) पृ0 68
8. वही, पृ0 68
9. Dr. S.N.Dass Gupta, A History of Indian Philosophy, P-222 Vol.II
10 देवी भगवत, 3/15/13
11 मनुस्मृति, 8/115
12 भट्टोजिदीक्षित, सिद्धान्त कौमुदी, पृ0105
13 वही, पृ0 92
14 वही, पृ0 119
15 वही, पृ0 49
16 पातञ्जल योग सूत्र, 1/2
17 पाणिनि कृत अष्टाध्यायी, 3/3/21
18 याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/43
19 Sir Johan Udaff, Shakti and Shakatta, DP 632
20 गीता, 9/23
21 Dr. Hiriyanna, Out line of Indian Philosophy, P.309
22 Dr. Radha Krishanan, Indian Philosophy, P. 337 Vol-II
23 Dr. B.G. Ralley, the Mystirious Kundilini, P.10-11
24 Dr. S.N. Dass Gupta, A Historyirious of Indian philosophy, P. 33 Vol-II
25 पातञ्जल योगसूत्र 1/5
26 वही, 2/1
27 वही, 2/3
28 वही, 2/45
29 कठोपनिषद् 2/5/2
30 वही, 1/2/12
31 वही, 2/1/1
32 वही, 2/2/3-5
33 वही, 1/3/10-12
34 वही, 2/3/16
35 वही, 2/3/18
36 मुंडकोपनिषद्, 2/2/6, प्रश्नोपनिषद् 6/6

37 प्रश्नोपनिषद् 2/13, 3/1/7
38 मैत्रयाणी उपनिषद्, 6/18
39 श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/12
40 वही, 2/9
41 वही, 6/15,3/18-19
42 डॉ0 पाल डायसन, उपनिषदों का दर्शन, पृ0 22-26
43 शिखोपनिषद्, 1/121
44 वही, 1/133
45 वही, 2/130-132
46 वही, 1/37
47 पं0 गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक वांग्ङमय में शाक्त दृष्टि
48 नादबिंदु उपनिषद् 1-6
49 वही, 31-47
50 ध्यानबिन्दु तत्वोपनिषद्, 9-22
51 योग तत्वोपनिषद्, 19
52 वही, 14-15
53 वही, 36-45
54 योग चुड़ामणि उपनिषद्, 18-34
55 तेजबिन्दु उपनिषद्, 1/15-16
56 वही, 1/17
57 वही, 1/18
58 वही, 3/4-5
59 अमृंतोनाद उपनिषद्, 5/6

वेदान्त दर्शन

(एक अध्ययन)

भारतीय दर्शनों में से एक वेदान्त दर्शन हैं वेदान्तदर्शन को ब्रह्मसूत्र तथा उत्तर मीमांसा के नाम से भी जाना जाता है। कुछ विद्वान् वेदान्तदर्शन को व्यास की रचना मानते हैं, परन्तु मुख्य रूप से इसके रचयिता बादरायण माने जाते हैं।

साधारण रूप से लोग वेदान्त का अर्थ वेद का अन्त अर्थात् उपनिषद् जानते हैं, परनतु शास्त्रीय दृष्टि से यह ठीक नहीं है। वेदान्त का शास्त्रीय अर्थ वह शास्त्र है, जिसके लिए उपनिषद् का प्रमाण है। वेदान्त में जो विषय वर्णित किया गया है, उस सबका मूल उपनिषद् है।

वेदान्त 'ज्ञानकाण्ड' का विचार है, ब्रह्मसूत्र पर सबसे प्राचीन टीका जो उपलब्ध है, वह शंकराचार्य का भाष्य है। वेदान्त का मुख्य विषय अद्वैतवाद है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म सर्वोच्च परमार्थ सत्य है। वह मनुष्य के पुरुषार्थ का चरम लक्ष्य है। ब्रह्म सत्, सनातन और अपरिवर्तनीय है। वह ज्ञान का आश्रय नहीं, बल्कि स्वयं ज्ञान स्वरूप है ब्रह्म-ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भी है। ब्रह्म के अतिरिक्त व्यावहारिक स्तर पर अन्य वस्तुओं का अस्तित्व है परन्तु पारमार्थिक स्तर केवल ब्रह्म ही है और उसके अलावा और कुछ भी नहीं है। आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। आत्मा के रूप में ब्रह्म घट-घट में व्यापक है। जो विभु में है, वही अणु में भी है। जिस प्रकार एक ही सूर्य के प्रतिबिम्ब अनेक स्थानों पर पड़तें हैं, उसी प्रकार समस्त आत्माएं उसी ब्रह्म के प्रतिबिम्ब मात्र है। प्राणिमात्र में जो भिन्न-भिन्न आत्मा दिखलाई देती है, वे एक ही आत्मा अर्थात् परमात्मा अर्थात् ब्रह्म है। श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए वेदान्त के एक प्रामाणिक ग्रन्थ महाकाव्य में कहा गया है। हे श्वेतकेतु तत्वमसि अर्थात् तुम ही वह हो, तुम ही आत्मा हो, ब्रह्म हो। अपनी आत्मा के स्वरूप का यह ज्ञान ही सत्यज्ञान कहलाता है। जैसे ही यह ज्ञान हो जाता है, संसार की माया का स्वयमेव ही लोप हो जाता है। उस ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य इधर-उधर भटकता फिरता है।

सत्यज्ञान के हो जाने पर सारी अविद्या, मोह आदि का नाश हो जाता है। मेरा-तेरा आदि का भेद समाप्त हो जाता है। माया के बन्धन स्वयमेव अलग हो जाते हैं। वह केवल ज्ञानी होकर निर्द्वन्द्व विचारण करता है, परमृहंस पद को प्राप्त होता है।

वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय माना गया है, जिसका अर्थ यह है कि व्यावहारिक भाषा में हम उसका वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि वह इन्द्रियातीत है। उपनिषदों ने नेति-नेति कह कर उसका वर्णन किया है। अनिर्वचनीय का अर्थ अज्ञेय भी नहीं, क्योंकि उसका अनुभव किया जा सकता है। व्यावहारिक जगत् से ऊपर उठने पर जीव को ब्रह्म अर्थात् अपने स्वरूप का बोध होता है।

वेदान्त में माया का विषय भी महत्वपूर्ण है। माया को अनादि माना गया है। जिन वस्तुओं का आदि है, उन सबमें यह माया प्रकट होती है। माया असत् और अनादि है, यह स्वयं प्रकाश एवं सर्वव्यापी आत्मा को आच्छादित करती है, जिस प्रकार शीशे पर मैल आ जाने पर प्रतिबिम्ब स्वच्छ दिखायी नहीं देता उसी प्रकार माया का आत्मा पर आवरण आ जाने पर उसका यथार्थ दर्शन नहीं हो पाता।

वेदान्त में ब्रह्मज्ञान से ही परमपद की प्राप्ति होती है। उसका ज्ञान श्रुति प्रमाण से होता है। उसके ज्ञान के लिए एक मात्र प्रमाण है शब्द। परन्तु साधारण लोगों को यह ज्ञान बिना माया की सहायता के नहीं हो सकता। इसलिए अन्य प्रमाणों की भी आवश्यकता होती है। इस दृष्टि को लेकर वेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापति तथा अनुपलब्धि ये छः प्रमाण माने गये हैं।

अन्य भारतीय दर्शनों की भांति वेदान्त दर्शन भी मोक्ष-शास्त्र ही है। मुक्ति का अर्थ आत्मा को माया से मुक्त करना है। माया ही जीव के लिए कष्ट का सबसे बड़ा कारण है। वेदान्त के अनुसार जिसने 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव कर लिया है, वह मुक्त हो जाता है। ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर ज्ञान का उदय होता है और समस्त कर्मों का नाश हो जाता है और जीव ब्रह्म हो जाता है। यही वेदान्त की मुक्ति है। दूसरे शब्दों में आनन्ददायक ब्रह्म प्राप्ति और माया निवृत्ति ही मोक्ष है। मुक्ति की अवस्था में विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का प्रकाश अखण्ड सत्-चित्त-आनन्द के धन रूप में विलक्षण रूप से प्रकट होने लगता है।

एकमेवाद्वितीयं नेदेह नानास्ति किंचन यह श्रुति वाक्य प्रमाणित हो जाता है। इसके परे तो गन्तव्य पद नहीं रहता है। इसी अद्वैततत्व का साक्षात्कार करने पर साधक अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। वेदान्त में भी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों की मान्यता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कुछ समय तक शरीर रह सकता है। मुक्त व्यक्ति भी सामान्य व्यक्ति की तरह चलता-फिरता, खाता-पीता है, परन्तु वह कर्मों में लिप्त नहीं होता। शरीर छूटने के पश्चात् वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।

वेदान्त में मोक्ष को प्राप्त करने के लिए साधना का वर्णन किया गया है। उच्चाधि कारी की तो श्रुति-वाक्य के सुनने मात्र से ही हृदयग्रन्थि कट जाती है, अर्थात् जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है। इसे शब्दापरोक्षवाद कहते हैं। सामान्य साधक के लिए साधना को बहिरंग और अन्तरंग दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। बहिरंगः- मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार वृत्तियों की समिष्टि का नाम ही अन्तःकरण है। वहिरंग साधन चार हैं-जिनको साधन चतुष्टय कहा गया है। इनके होने पर मनुष्य सच्चा जिज्ञासु होता है। इनमें पहला साधन नित्यानित्य वस्तु विवेक है। ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुएं अनित्य हैं, यह जानना होता है दूसरा साधन समस्त भोग-विलास और स्वर्गादि परलोक

के सुखों से विमुख हो जाना है। तीसरा साधन शमादि है, जिनमें शम, दम, तितीक्षा,उपरति, समाधान, श्रद्धा शमिल हैं। चौथा साधन मुमुक्षत्व है, जिसका अर्थ अज्ञान-कल्पित बन्धन से मुक्त हो जाने की इच्छा से है। इस प्रकार विवेक से वैराग्य तथा वैराग्य से मोक्ष अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति की जिज्ञासा होती है। अन्तरंगः- साधना में श्रवण, मनन और निदिध्यासन तथा समाधि ये चार अन्तरंग साधन हैं। छः प्रकार के लिंगों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का एक ही ब्रह्म में तात्पर्य समझना श्रवण कहलाता है। शिष्य-गुरु के पास जाकर अहंब्रह्मास्मि, 'अयमात्मादि' वाक्यों को सुनता है। इसके पश्चात् वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा ब्रह्म का चिन्तन करना, मनन कहलाता है। समस्त पदार्थो में भिन्नत्व भावना को हटा कर सबमें एकमात्र ब्रह्मविषयक चित्त की वृत्तियों को एकाकार करना समाधि कहलाती है। इन दोनों प्रकार के साधनों द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का इतिहास बहुत प्राचीन है, उपनिषदों में तो अद्वैतवाद की प्रतिपादक अनेक श्रुतियाँ हैं और उनके विशेष अध्ययन से उपनिषदों में अद्वैतवाद की मुख्य विचारधारा प्रवाहित होती है। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी अद्वैतवाद का समर्थन दिखायी पड़ता है। बौद्धमत् में भी विज्ञानवादी तथा शून्यवादी अद्वैतमत के ही समर्थक हैं। शैवागम और शाक्त में भी अद्वैतमत का ही प्राधान्य है। जैन मत में भी समन्तभद्र ने अद्वैतमत का उल्लेख किया है।

कहा जाता है कि दर्शन के बिना विज्ञान अन्धा है। आज जबकि विज्ञान ने ऐसे आविष्कार भी कर लिए हैं, जिनसे मानवजाति का सर्वनाश भी हो सकता है। वर्तमान समय में बढ़ती हुई अहंकारिक वृत्तियाँ जहाँ एक दूसरे को गिराने के लिए तैयार हैं। आज जबकि धर्मों के नामों, जातियों की विभिन्नताओं, सम्प्रदायों के झगड़ों आदि की दिनोंदिन वृद्धि होती जा रही है, एक दूसरे पर प्रभुत्व जमाने की होड़ लग रही है। इन समस्याओं के लिए वेदान्त दर्शन हमारा बहुत अच्छी तरह मार्गदर्शन करता है।

धर्म हमें एक दूसरे पर दया करने का सन्देश देते हैं। ईसाई मत में यदि हमारी एक गाल पर कोई चपत लगाये तो दूसरी भी उसकी ओर करने के लिए कहते हैं इस्लाम ध र्म में इंसान और शैतान दोनों की मदद करने के लिए कहा गया है। जैन धर्म में-अहिंसा परमोधर्म का उपदेश दिया गया है। परन्तु वेदान्त दर्शन तो हमें बतलाता हैं कि इम सब के अन्दर एक ही आत्मा है, हम सब वही एक आत्मा अर्थात् ब्रह्म हैं और जब हम वही एक हैं तो फिर किससे घृणा, किस पर प्रभुत्व जमाना? फिर तो केवल प्रेम, स्नेह ही रहता है। इस प्रकार वेदान्त की एकत्ववाद की भावना मानव को एक दूसरे के पास ही नहीं लाती बल्कि एकता की बात कहती है। सबके अन्दर उसी एक ब्रह्म के दर्शन होते हैं,

जो कि अपने में भी है। यहाँ तक कि विश्व के कण-कण में उसी आत्मा की अनुभूति होती है। जैसा कि स्वामी रामतीर्थ के जीवन में घटित हुआ। सबके साथ मनुष्य अपने जैसा ही प्यार और व्यवहार करता है। अपनी ही तरह दूसरों की रक्षा करता है। कहते हैं-स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सामने जब कोई मनुष्य पीटा जा रहा था तो वे जोर से चिल्ला पड़े, कहने लगे कि मारो मत, मुझे मत मारो। जब उनके पास आकर देखा गया तो उनके शरीर पर चौटों के निशान थें। अद्वैत वेदान्त की इस अनुभूति से मानव को दूसरों के दुःख से भी उतना ही पीड़ित होता है, जितना स्वयं के दुख से। इस प्रकार समस्त भेद-भावों को समाप्त कर वेदान्त हमें एकता का पाठ पढ़ाता है।

डॉ० त्रिलोक चन्द
रीडर दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०, हरिद्वार

देशभक्ति

पर-सेवा के तुल्य है, और न कोई कर्म।
जीवन देना देश-हित, सबसे अच्छा धर्म।।
वीरों के बलिदान सब, होते देश-हितार्थ।
देकर जीवन देश को, नष्ट करें सब स्वार्थ।।
अस्त्र-शस्त्र बल-ज्ञान से, करें दूर आतंक।
हित-नित सोचे देश का, साफ करें सब पंक।।
कूट-कूट के नित भरें, देश-प्रेम का चाव।
अर्पित प्रतिपल प्राण हो,हो परार्थ का भाव।।
देशभक्त हों सब मनुष्य, अर्पण कर दें प्राण।
आर्य बने संसार सब, हो सबका कल्याण।।

रचयिता
आचार्य संदीप कुमार
त्यागी 'दीप'
साहित्याचार्य

"प्रभो! तेरी कृपा हमें प्राप्त हो"

ओ3म् इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध। स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे।।

ऋ0 3।6।11।।

अन्वयः - अग्ने! (त्वम्) पुरुदंसम् इडा गोः सनिं शश्वत्तमं हवमानाय साध। नः विजावातनयाः सुनुः स्यात्! अग्र! (या) ते सुमतिः सा अस्मे भूतु।

अन्वयार्थः - (अग्ने! पुरुदंसं इडां, गोः सनिम्) हे प्रकाशस्वरूप प्रभुवर! तू बहुविध कर्मों के करने के लिए आश्रयभूत अन्न और ज्ञानप्रदान करने वाली वेदवाणी, दुग्धाादि प्रदान करने वाली गौ, प्रकाश प्रदान करने वाली सूर्य-किरण का दान (शश्वत्तमं हवमानाय साध) सदा यज्ञादि शुभ-कर्मों के करने वाले यजमान के लिए सिद्ध कर, प्रदान कर। (नः विजावा तनयः सूनुः स्यात्) तेरी कृपा से हमारा विजयशील-गतिशील (Active) तनय अर्थात् कुल का विस्तार करने वाल-सुख-सौभाग्यों का विस्तृत-विकसित करने वाला, सूनु-अपने गुण-कर्म-स्वभावों से सर्वत्र स्वयं प्रशंसा पानेवाला और अपने माता-पिता को प्रशंसित करनेवाला तथा तुझ दिव्य परमेश्वर की स्तुति करनेवाला पुत्र होवे। (अग्ने! या ते सुमतिः सा अस्मे भूतु) हे प्रभो! जो तेरी शुभ मति है, उत्तर बुद्धि है, वह तेरी कृपा से हममें होवे।

अथवा

(अग्ने! पुरुदंसम् इडां, इडां. गोः सनिं) हे ज्ञान-प्रदाता! बसे अग्रणी परमेश्वर! तू बहुविध कर्मों की साधक, स्तुति योग्य, वेदवाणी का दान (वा सूर्य के प्रकाश का दान, दुग्धदात्री गौ का दान) (शश्वत्तमं हवमानाय साध) ज्ञान के लिए सदा समुत्सुक मनुष्य को प्रदान कर। उस ज्ञान के अनुरूप आचारण करने से (नःविजावा तनयः सूनुः स्यात्) हमारा विजयशील, ऐश्वर्यों का उत्पादक, कुल विस्तारक पुत्र होवे। (अग्ने! या ते सुमतिः सा अस्मे भूतु।) प्रभो! जो तेरी सुमति है, सत्प्रेरणा है, वह भी हमें सदा मिलती रहे।

वह प्रभु अगिस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है। हमें चाहिए कि हम हवमान बनें, हम सच्चे यजमान बनें, देवपूजा, संगतिकरण और दानादि गुणोंवाले बनें, उस ज्ञानप्रकाश के स्रोत परम पावन प्रभु के सच्चे उपासक बनें।

वह प्रभु भी हम हवमानों, हम यजमानों, हम उपासकों को भूमि प्रदान करे जिसपर हम बहुविध पुरुषार्थ कर अन्नादि उत्पन्न कर सकें और अपना घर बनाकर उसमें सुखपूर्वक भोजन-आच्छादन कर सकें। वह प्रभु हमें गौ का दान दे (वेदवाणी, सूर्य का प्रकाश एवं) पशुधन दे जिससे हम दुग्ध-दधि-घृत आदि प्राप्त कर उत्तम स्वास्थ्य आदि लाभ कर सकें। प्रभुकृपा से हमारे पुत्र ऐसे हों जो सदा गतिशील (Active), कुल का सदा विस्तार करनेवाले, अपने गुण-कर्म-स्वभावों से सदा स्वयं प्रशंसार पानेवाले एवं अपने माता-पिता को प्रशंसा प्राप्त करानेवाले हो।, हस सब सदा अग्निस्वरूप तेरी स्तुतिप्रार्थना-उपासना करने वाले हों और तेरी सुति, तेरा सुज्ञान भी हमें सदा उपलब्ध होता रहे जिससे हम बिना कहीं अटके और बिना कहीं भटके निरन्तर आगे बढ़ते हुए लोक में सुख-सौभाग्य और मोक्ष में परमानन्द को प्राप्त करने वाले होवें।

प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार

पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति, गु.का.वि.वि. हरिद्वार

डॉ रामनाथ वेदालंकार : एक विलक्षण व्यक्तित्व

किसी भी संस्था का महत्व तब ओर भी बढ़ जाता है जब उसमें रहने वाले अपना सारा जीवन उसी संस्था को सर्मिपत कर दिन रात उसके विकास में लगे रहते है तब वह व्यक्ति तथा वह संस्था दोनी ही एक दुसरे के पूरक बन जाते है। ऐसे ही व्यक्तित्व के धनी है गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक व पूर्व कुलपति, प्रस्तोता आचार्य, रामनाथ वेदालंकार जिन्होंने अपनी ज्ञान की ज्योति के प्रकाश से सम्पूर्ण शिक्षा जगत् को प्रकाशित किया है और ज्ञान गरिमा को गौरवान्वित किया है।

संस्कृत व वेदों के इस यशस्वी स्नातक का जन्म सात जौलाई 1914 को उत्तर प्रदेश के बरेली जिले के फरीदपुर ग्राम में हुआ था। इनके पूर्वजो का अपना निजी व्यवसाय था इनके दादा का नाम कण्ठीराम व पिता का नाम गोपालराम था जो प्रारम्भ से ही आर्य समाज के प्रति समर्पित थे इसी के चलते तत्कालीन वहाँ के प्रमुख आर्य समाजी डॉ0 श्याम स्वरूप से इनके पिताजी की काफी नजदीकी बढ़ गयी थी तथा वह आर्य समाज के कार्यक्रमो में बढ़चढ़कर हिस्सा लेने लगे जिसके चलते उन्होंने अपने सभी बच्चों को प्रारम्भ से ही शिक्षा लेने के लिए गुरुकुलों में भेजा। 1936 में आचार्य रामनाथ ने गुरुकुल काँगड़ी वि0वि0 से वेदालंकार की उपाद्यि प्राप्त की।

इनका विवाह बरेली निवासी शिवलाल जी की पुत्री प्रकाशवती के साथ 18 अप्रैल 1941 को सम्पन्न हुआ जिन्होंने इनके जीवन में प्रेरणा का स्रोत्र बन इन्हें शिक्षा जगत् में ऊँचाइयों तक पहुँचाया। अध्यापन को अपना मूल उद्देश्य मान जीवन चलाने का संकल्प लेकर चलने वाले इस मानव ने फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। विद्या अध्ययन के बाद (1939से 1976) लम्बे समय तक यह गुरुकुल काँगड़ी वि0वि0 में सेवारत रहते जुडे रहे।

इस दौरान इन्होंने विश्वविद्यालय के विभिन्न प्रशासनिक दायित्वों का भी कुशलता पूर्व संचालन किया। वर्ष 1976 से 1979 तक वह पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द अनुसंधान पीठ के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे।

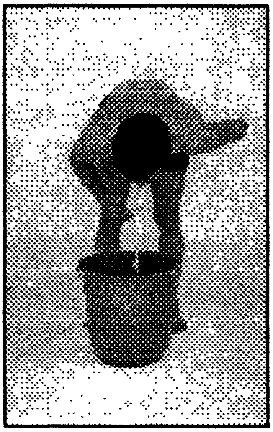
इनकी शिक्षा जगत् व संस्कृत सेवाभाव से प्रभावित हो समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रीय व प्रादेशिक स्तर पर इन्हें सम्मानित किया जाता रहा है जिनमें 1997 में भारत के राष्ट्रपति द्वारा संस्कृत भाषा में विशेष योगदान के लिए सम्मानित किया जाना तथा उत्तरांचल संस्कृत अकादमी द्वारा वर्ष 2004 का राष्ट्रीय पुरस्कार भारत के राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम द्वारा दिया जाना प्रमुख है इनके अलावा उत्तरप्रदेश अकादमी द्वारा 51 हजार रुपये का पुरस्कार व रजत ट्राफी तथा आर्य समाज शांताकुञ्ज बम्बई द्वारा वेद वेदांग पुरस्कार एवं भारतीर विद्या भवन की ओर से प्रदान किया गया एक लाख का स्वामी गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुरस्कार भी प्रमुख है।

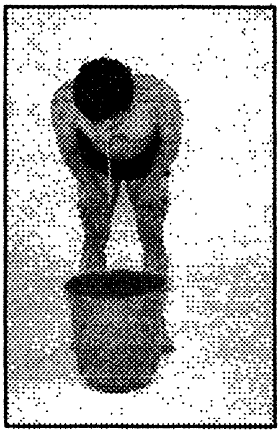
वर्तमान में आप अपने लम्बे अनुभवों का लाभ गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय को उसकी शिक्षा पारिषद् को सदस्य के रूप में दे रहे है। यह इस विश्वविद्यालय के लिए गौरव की बात है कि उसे अपने इस पुरोधा का मार्ग दर्शन वर्तमान में भी प्राप्त हो रहा है।

ब्रजभूषण शर्मा

गुरुकुल काँगड़ी वि०वि०, हरिद्वार

गजकरणी क्रिया एवं अम्लपित्त प्रतिषेध





स्वास्थ्य व्यक्तिमात्र का मातृ ऋण है। शिशु के विकास से लेकर समझदार विकसित पुरुष बनने तक हमें स्वास्थ्य को धरोहर की भाँति संरक्षित करना चाहिए क्योंकि शरीर द्वारा ही हम समस्त कार्य करने में सक्षम हैं।[1] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – सभी पुरुषार्थों की पूर्ति के लिए आरोग्य आवश्यक है।[2] अत: प्रत्येक सम्भव प्रयास द्वारा इस शरीर रूपी धरोहर को सुरक्षित रखने का यत्न करना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि इस धरोहर को सुरक्षित रखने के उपाय क्या हैं? यह भी विचारणीय है कि स्वास्थ्य में बाधक क्या-क्या हैं?

जैसा कि हम जानते हैं कि हमारे शरीर के संरचनात्मक घटक शरीर के विभिन्न क्रियाकलापों के द्वारा शरीर के अन्दर समन्वय की स्थिति में बने रहते हैं अथवा यूँ कहें कि शरीर के संरचनात्मक घटक दोष, धातु एवं मल शरीर की क्रियात्मकता के लिए उत्तरदायी हैं।[3] धात्वग्नि जठराग्नि एवं भूताग्नि के द्वारा समन्वित हैं। इन अग्नियों की क्रियाशीलता में किंचित् परिवर्तन शरीर के स्वास्थ्य को विचलित कर देने में समर्थ है। इनमें जठराग्नि का सबसे अधिक योगदान है। जठराग्नि की चार स्थितियों-तीक्ष्ण, मन्द, सम व विषम-में से समाग्नि की अवस्था वाला व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को संरक्षित रखने में समर्थ होता है। शेष तीन अवस्थाएँ शरीर में रोग वृद्धि में सहायक होती हैं। आयुर्वेद में 'काय' अग्नि का पर्याय है। इस लेख में वर्णित 'अम्लपित्त' को काय (अग्नि) में परिवर्तन का परिणाम ही कहा जाता है।

अम्लपित्त के कारण :-

'अम्लपित्त' जैसी रोग स्थिति आहार, विहार एवं मानसिक स्वास्थ्य के विपरीत होने से होती है। अधिक समय तक खट्टे, तीक्ष्ण एवं मसालेदार या उष्ण पदार्थों का निरन्तर सेवन करने से आमाशय में स्थित अन्न विदग्ध हो जाता है एवं उसी विदग्ध अन्न की स्थिति में आहार लेने से नवान्न भी विदग्ध होता रहता है। जैसे दही जमाए पात्र में शुद्ध दूध डालने पर दही ही बन जाता है[4]। अधिकसमय तक अन्न का विदग्ध रहना तथा मानसिक अस्वास्थ्य तथा आहार-विहारजन्य स्थितियाँ अम्लपित्त रोग को उत्पन्न करती हैं।

अम्लपित्त के लक्षण :-

'अम्लपित्त' रोग के लक्षणों में भोजन का न पचना, बिना परिश्रम के थकान, जी मिचलाना,

कड़वी तथा खट्टी डकारों का आना, उदर का भारीपन, हृदयप्रदेश व कण्ठप्रदेश में जलन, शिर तथा छाती में पीड़ा तथा पेट में अफारा आदि लक्षण बताये गए हैं[5]। जो अपद्रव्यों की आमाशय में उपस्थिति का परिचायक एवं रोगोत्पत्ति में निर्णायकता का सूचक हैं।

गजकरणी या कुञ्जल क्रिया :-

भक्तिसागर में स्वामी चरणदास ने कहा है कि-

गजकर्म यहि जानिए पिये पेट भर नीर।
फेरि युक्ति सौं काढ़िये रोग न होय शरीर ॥[६]

हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है-

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः॥[७]

अर्थात् अपानवायु को ऊपर कण्ठनाल में पहुँचाकर उदर में गए हुए पदार्थ का उद्वमन करते हैं। उसके क्रमपूर्वक अभ्यास से नाड़ी-समूह का वशीभूत होना। हठयोग के आचार्यों द्वारा गजकरणी कहा गया है।

विधि :-

गजकरणी क्रिया की विधि जो सामान्य रूप से प्रचलित है, वह यह है। गुनगुना जल कागासन में बैठकर आकण्ठ पीलें। खड़े होकर 60^0 पर झुक जाएँ। बाएँ हाथ से पेट के नाभि से ऊपरी भाग को दबाएँ तथा दाएँ हाथ की मध्यमा व तर्जनी अंगुली से छोटी जिह्वा (युवला) को स्पर्श करें जिससे जल वेग से बाहर आ जाएगा। जिसके साथ-साथ इसके द्वारा आमाशयस्थ अपद्रव्यों को बाहर निकालना सम्भव होगा।

चिकित्सीय उपयोग :-

अम्लपित्त की स्थिति उत्पन्न होने पर गजकरणी शमनात्मक परिणाम के लिए लाभप्रद होती है। आमाशयिक अपद्रव्य अथवा अवांछित अवशिष्ट कफ के रूप में बाहर आता है। कफ के अपकर्षण के बाद शुद्ध अम्ल रस अपनी स्वच्छ अवस्था या तीक्ष्णता को प्राप्त कर लेता है। इसी कारण गजकरणी के बाद दुग्धपान का निर्देश किया जाता है। जिससे कफ के द्वारा सुरक्षित आवृत्त आमाशय कला अम्लरस की तीक्ष्णता से प्रभावित न हो तथा अग्नि समस्था में बनी रहे। इस प्रक्रिया के द्वारा अम्लपित्त जैसी स्थिति से सहजभाव से बचा सकता है। अम्लपित्त के रोगियो पर प्रतिषेधात्मक दृष्टि से गजकरणी क्रिया का प्रभाव देखा गया है।

निष्कर्ष :-

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य आहार-विहार के प्रति सजग रहे। भोजन में तैल,

मिर्च, मसाले, खटाई, अल्कोहल आदि के आधिक्य से बचें और केवल गजकरणी क्रिया का अभ्यास करता रहे तो अवश्य ही अम्लपित्त की स्थिति से बच सकता है। यही नहीं रोग हो जाने के पश्चात् भी यदि वह आहार-विहार का ध्यान रखे और गजकरणी का अभ्यास करे तो रोग से मुक्त हो सकता है। दैनन्दिन जीवन में इसका अपनाया जाना स्वास्थ्यकर सिद्ध होगा।

प्रत्येक प्राणी स्वस्थ जीवन जीना चाहता है। मनुष्य तो रोग की कल्पना से ही सिहर उठता है। अच्छे स्वास्थ्य के विना जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। यदि व्यक्ति स्वास्थ्य-संरक्षण के प्रति सजग रहे, तो स्वस्थ रह सकता है। स्वस्थ रहने के अनेकानेक उपायों में से योग प्राकृतिक उपाय है। इसी उपाय का आश्रय लेकर निरापद जीवन सम्भव है। गजकरणी द्वारा अम्लपित्त प्रतिषेध भी इसी दिशा में एक कदम है। योग द्वारा व्यक्ति सौ से अधिक वर्षों तक स्वस्थ जीवन जी सकता है।

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानवचेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

डॉ. एस.बी. शर्मा
योग चिकित्साधिकारी
राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय
सेक्टर-5, राजनगर गाजियावाद, उ0प्र0

डॉ. वी.के. अग्निहोत्री
प्रवक्ता, स्वस्थवृत्त विभाग
ऋषिकुल राज0 आयुर्वेद महाविद्यालय, हरिद्वार।

सन्दर्भः-

1. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। - कालिदास
2. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। - चरक संहिता 1/15
3. दोषधातु मलं मूलं हि शरीरम्। - चरक संहिता
4. अविशुष्के यथा क्षीरं प्रक्षिप्तं दधि भाजने।
   क्षिप्रमेवाम्लतामेति कूर्ची भावं च गच्छति।। - काश्यप संहिता, 8-16
5. अविपाको क्लमोत्क्लेश तिक्ताम्लोद्गार गौरवः।
   हृत्कण्ठ दाह रुचिभिश्चाम्लपित्त वदेत् भिषक् ।। माधवनिदान, अ.50
6. भक्तिसागर (षट्कर्म)
7. हठयोग प्रदीपिका - 2/26

वेदों में क्षय रोग (राजयक्ष्मा) और उसका निदान

शरीर के अन्दर श्वास-प्रश्वास, रक्तपरिभ्रमण, पाचन आदि अनेक क्रियाएँ होती हैं। राजयक्ष्मा रोग के उत्पन्न होने पर शरीर की ये सब क्रियाएँ धीरे-धीरे क्षीण होती जाती हैं, अत: इसे क्षय कहते हैं। इसके अतिरिक्त रक्त-मांस आदि का क्षय तथा शुक्र और ओज का भी क्षय होने से इसका क्षय नाम पड़ा है। फेफड़े में प्रधान रूप से विकृति होने के कारण इसे Pulmonary Tuberculosis (T.B.) टी.बी. कहते हैं। अधिक संभोग (Sex) के कारण शुक्र नष्ट होकर फेफड़ों के विकृत होने से उत्पन्न रोग राजयक्ष्मा (Phthisis, थाइसिस) है।

राजयक्ष्मा के विषय में चरक, सुश्रुत और अष्टांगहृदय में विस्तृत विवेचन मिलता है। वहाँ इसके कारण, चिकित्सा, पथ्य आदि का विस्तृत विवेचन है।

'अष्टांगहृदय' में राजयक्ष्मा के चार कारण बताए गए हैं :-

(1) साहस : शक्ति से अधिक परिश्रम।

(2) वेग संरोध : मलमूत्र आदि का वेग रोकना।

(3) वीर्य और ओज का क्षय

(4) खान पान में अनियमितता

अष्टांगहृदय का कथन है - **दैवव्यपाश्रयं तत्तद् अथर्वोक्तं च पूजितम्** (चि0 5-83)। अर्थात्, दैवव्यपाश्रय चिकित्सा में अथर्ववेदोक्त यज्ञ आदि कर्म करें।

वेदों में राजयक्ष्मा रोग का उल्लेख है और इसकी अनेक प्रकार से चिकित्सा करने का निर्देश दिया गया है :-

(१) यज्ञ द्वारा चिकित्सा :

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम्,अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्॥

यह मन्त्र ऋग्वेद 10.161.1 और अथर्ववेद 3.11.1 में आया है। इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि जीवन के लिए और राजयक्ष्मा को समाप्त करने के लिए हवन आवश्यक है।

अथर्व0 19.38.1 में तो यह बताया गया है कि यदि गुग्गुल से हवन किया जाये तो यक्ष्मा रोग दूर भागता है -

न तं यक्ष्मा अरुन्धते, नैनं शपथोऽश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः, सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥

अथर्ववेद 7.76.5 में लिखा है - हे क्षय रोग हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं। जिस घर में हवन होता है उस घर में तू कैसे पहुँच सकता है- **'कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे।'**

अथर्ववेद में कूठ (कुष्ठ) औषधि को सर्वरोगनाशक कहा गया है। यह सब प्रकार के यक्ष्मा रोग को नष्ट करती है -

1. **स कुष्ठो विश्वभेषजः** 19.39-6
2. **यक्ष्मं च सर्वं नाशय** 5.4-9

जबलपुर वासी डॉ0 फुन्दनलाल अग्निहोत्री ने तो एक 'सेनेटोरियम' का निर्माण कर क्षय रोगियों की हवन के माध्यम से चिकित्सा की थी। उनकी लिखी पुस्तक में विस्तार से इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

तैत्तिरीयसंहिता का कथन है कि प्रातः और सायं यज्ञ करने से तथा अमावस्या एवं पूर्णिमा को यज्ञ करने से राजयक्ष्मा नहीं होता -

यो दर्शपूर्णमासयाजी सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति (2.5.6.3)"

यज्ञ वायु को सुगन्धित करता है। यह सुगन्ध श्वास के द्वारा अन्दर जाकर फेफड़ों को शुद्ध करता है और उसमें व्याप्त दोषों को बाहर निकाल देता है।

2. **सूर्य किरण चिकित्सा :**

आदित्या अंशुम् आप्याययन्ति-तैत्तिरीय संहिता 2.3.5.2 के अनुसार राजयक्ष्मा रोग के निवारण के लिए सूर्य किरणों का सेवन अनिवार्य है। वेद में अनेक स्थानों पर प्रातः कालीन सूर्य की किरणों के सेवन से हृदय रोग एवं अन्य रोगों के ठीक होने का विधान है।

3. **अन्य उपाय :**

(क) पापों से, पाप भावनाओं से एवं पापकर्मों से बचना।

(ख) एक से अधिक विवाह न करना और अधिक स्त्री-सम्भोग से बचना।

(ग) मैत्रयाणी संहिता का कथन है कि राजयक्ष्मा रोग हो जाने पर चन्द्रमा प्रजापति के पास गया तो उन्होंने इसके निवारण के लिए उपाय बताया - सत्य बोलो। असत्य के कारण ही यक्ष्मा रोग लगता है। मनुष्य में वीर्य ही ओज है, यही प्राणरक्षक तत्व है। इसके संरक्षण से ही जीवनी शक्ति आती है और रोगों से मुक्ति होती है। ऋग्वेद 1.161 सूक्त में कहा गया है कि भले ही राजयक्ष्मा रोगी मृत्यु के पास पहुँच गया हो, जीवन की आशा क्षीण हो चुकी हो फिर भी यज्ञ की महिमा अपार है, वह अनन्त शक्ति वाला है, वह प्राण और अपान शक्ति को पुष्ट करता है तथा सत्य के हाथों से मृत्यु से बचा लाता है। अतएव मैत्रायणी संहिता में प्रजापति का उपदेश सार्थक है कि राजयक्ष्मा से बचने के लिए सत्य बोलें।

(घ) **सोमपान और पुरुषार्थ :** अथर्ववेद (7.76.6) में राजयक्ष्मा के उपचार के रूप में दो बातें और बताई गई हैं। वे हैं-सोमपान और पुरुषार्थ। इसका अभिप्राय यह है कि सोमरस या अन्य पौष्टिक रसों का पान यक्ष्मा रोग को दूर करता है। साथ ही पुरुषार्थ या मनोबल को क्षीण न होने देने से भी

रोग निवृत्ति के लिए उपयोगी है। ये रोग मनोविकार और इच्छाशक्ति के ह्रास से उत्पन्न होकर बढ़ते हैं। यदि इच्छाशक्ति को प्रबल रखा जाये तो इनका प्रकोप कम होता है और शनैः शनैः रोग का उपक्षय होता है।

मनोरंजन और धार्मिक कृत्य : राजयक्ष्मा के रोगी के लिए कुछ मनोरंजन, धार्मिक कृत्य और मांगलिक कार्यों के करने का आदेश आयुर्वेद के ग्रन्थों ने दिया है। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं -

संगीत का सुनना, प्रसन्नचित्त रहना, वृद्धजनों की सेवा- शुश्रूषा, ब्रह्मचर्यपालन, दान, तप, सत्य भाषण करना।

चरक और वाग्भट का कथन है कि प्राचीनकाल में अथर्ववेद में वर्णित यज्ञ-क्रिया के द्वारा ही राजयक्ष्मा रोग पर विजय प्राप्त की गयी थी।

तां वेदविहितामिष्टिम् आरोग्यार्थी प्रयोजयेत्। चरक, चिकित्सा 8-189
दैवव्यपाश्रयं तत्तद् अथर्वोक्तं च पूजितम्। अष्टांग0 चिकि0 5-83

यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता और मैत्रायणी संहिता में भी राजयक्ष्मा का प्रसंग आया है। तैत्तिरीय संहिता में इसके तीन भेदों का भी वर्णन है। ये भेद हैं- राजयक्ष्मा, पापयक्ष्मा और जायान्य (या जायेन्य)। इस रोग की उत्पत्ति के विषय में कथा आती है कि प्रजापति ने राजा चन्द्रमा को अपनी 33 पुत्रियाँ दीं, परन्तु चन्द्रमा ने केवल रोहिणी नक्षत्र से अपना संपर्क अधिक बनाए रखा, अतः अतिविषयासक्ति के कारण उसे राजयक्ष्मा रोग लग गया। यह रोगों में मुख्य है और रोगों का राजा है, अतः इसे राजयक्ष्मा कहते हैं। इन संहिताओं में इस रोग के कारण और निदान का भी उल्लेख है। इनमें रोग की उत्पत्ति के तीन कारण बताए हैं -

1. अति विषयासक्ति
2. पापभावनाएं या पापकृत्य
3. अधिक स्त्रियों से संभोग।

तैत्तिरीय संहिता में इसको इस प्रकार कहा गया है -

राजानं यक्ष्म आरदिति तद्राजयक्ष्मस्य जन्म, यत् पापीयान् अभवत्
तत् पापयक्ष्मस्य, यत् जायाभ्योऽविन्दत् तत् जायेन्यस्य। (2.3.5.2)

राजयक्ष्मा का भाव है कि यह रोगों का राजा है। यह रोग राजाओं, धनिकों, सम्पन्न वर्ग के लोगों को अधिक होता है, क्योंकि विलासी जीवन के कारण उनमें रोग-रोधकता (रोग प्रतिरोधक शक्ति) की मात्रा कम हो जाती है। सम्पन्नता के कारण जीवन में विलासिता और कामुकता अधिक होती है। पापयक्ष्मा से अभिप्राय है कि मनुष्य पाप भावनाएं, पापकृत्य और अपने पापों के फलस्वरूप इस रोग से आक्रान्त होता है। जायान्य और जायेन्य दोनों शब्द मिलते हैं

इसके लिए कहा गया है कि

जायाभ्यः अविन्दत् या जायाभ्याम् अविन्दत्।

दो स्त्रियों या अनेक स्त्रियों से संभोग के कारण यह रोग लगता है। इसका अभिप्राय यह है कि बहुविवाह भी इस रोग का एक कारण है।

राजयक्ष्मा के प्रसंग में अथर्ववेद में एक महत्वपूर्ण संकेत यह दिया है कि यह जायान्य (क्षय रोग) छूत की बीमारी है। वेद का कथन है कि यह पक्षी की तरह उड़कर लगता है। रोगी और अरोगी दोनों प्रकार के व्यक्तियों को इससे सावधान रहना चाहिये -

'पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्' अथर्व0 7.76.4

वेद सभी सत्य विद्याओं का जहां भण्डार है वहीं संसार के सबसे प्राचीन साहित्य में इसकी गिनती होती है। इनमें जहां क्षय रोग का वर्णन है वहीं कीटाणु विद्या का भी उल्लेख है। ऊपर जो प्रमाण (**पक्षी जायान्यः**) दिया गया है इससे यह सिद्ध होती है। अथर्ववेद और अन्य वेदों में क्षय रोग (**यक्ष्मा**) के मन्त्र यह सिद्ध करते हैं कि उस समय लोगों को इसकी सफल चिकित्सा का ज्ञान था। जिस कारण यह रोग इतने वेग से नहीं बढ़ने पाया जैसा आजकल बढ़ रहा है। **अतः जहाँ अन्य उपायों से यह नियन्त्रित होता है वहीं यज्ञ-चिकित्सा इसका पूर्ण व सर्वांगपूर्ण उपचार है।**

अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों में राजयक्ष्मा या क्षय रोग का वर्णन पाया जाता है- 2.33. 1-7; 3.11.1, 3.31.1-11; 5.30.8-9; 6.127.3; 8.7.3, 5; 9.8.3, 9,10-11,19; 10.3. 5; 12.2.1-2,14; 19.36.3; 19.38.1-2; 20.96.17-23; 2.10.5; 3.11.5; 5.4.9; 5.22.11; 5.30.16; 6.14.2; 6.127.1; 7.80.3-5; 7.86.6; 8.1.21; 11.2.22; 12.4.8 आदि।

यज्ञ की सामग्री

जिस प्रकार सब चिकित्सा विधियों में रोगी की अवस्था विशेष पर भिन्न-भिन्न औषधियाँ होती हैं उसी प्रकार यज्ञ-चिकित्सा में भी यज्ञ की सामग्री में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं। **डा० फुन्दन लाल अग्निहोत्री** ने रोगी की अवस्था को ध्यान में रखते हुए क्षय-रोगियों को चार श्रेणियों में बाँट कर हर श्रेणी के लिये पृथक्-पृथक् सामग्री दी है।

1. कुछ ऐसे शरीर रचना के लोग होते हैं जो रोगी जैसे दृष्टि पड़ते हैं। तंग सीना, कमर झुकी, गाल पिचके। ऐसे लोग सुगमता से क्षय रोगी हो सकते हैं। उनको तथा उन लोगों को जिनका सम्पर्क क्षय-रोगियों से रहता है। अर्थात् क्षय-रोगियों के परिचारक, चिकित्सक, नर्स, सम्बन्धी इत्यादि को विशेष सामग्री से नित्य प्रति हवन करना चाहिये।

प्रथम श्रेणी के लक्षण

रोगी कुछ उदास सा रहता है, थोड़ी-थोड़ी सूखी खाँसी होती है अर्थात् खाँसी का केवल ठसका सा आता है विशेषतः सोने, जागने व प्रातःकाल के समय और भोजन करने के पश्चात् छाती में हसली की हड्डी के ऊपर नीचे दर्द होता है। जिसकी टीसें कंधों और पीठ तक जाती है और यदि प्लूरिसी (Pleurisy) भी हो तो दर्द तेज होता है। खांसते समय भी दर्द तेज होता है और कभी-कभी भोजन करने के पश्चात् खांसी आने पर वमन भी हो जाया करता है। बदहजमी का रोग लगा रहता है। घृत और अन्य चिकने पदार्थों से रोगी को अरुचि हो जाती है। हृदय तथा नाड़ी का स्पंदन बढ़ जाता है अर्थात् दिल धड़कने लगता है और नाड़ी की गति कुछ तीव्र हो जाती है, श्वास लेने में कुछ कष्ट अनुभव होता है। थोड़े से परिश्रम से श्वास फूल जाता है। रोगी दिन-प्रतिदिन निर्बल होता जाता है। पहिले दर्जे के अन्त में खाँसी में कुछ कफ भी आने लगता है। कभी कफ में रक्त भी होता है। कभी बहुत रक्त निकलता है, कभी खांसते और बोलते समय आवाज भारी होती है। प्रायः सायंकाल को रोगी को कुछ ज्वर भी हो जाता है।

द्वितीय श्रेणी के लक्षण

भूख मर जाती है। हाथ पाँव के तलवे जलते हैं। खांसी अधाक आने लगती है। विशेषतः प्रातःकाल जागने पर खांसी में कफ अधिक निकलता है। जो पीव मिश्रित होता है। यदि ऐसे कफ को पानी में डालें तो वह नीचे बैठ जाता है। अन्वीक्षण यंत्र द्वारा देखा जाये तो उसमें क्षय-कृमि, पीव और गले सड़े फफेड़े के अंश पाये जाते हैं। श्वास कष्ट से आता है और निर्बलता तथा दुबलापन बढ़ता जाता है। नाड़ी शीघ्र-शीघ्र चलती है। यदि रोग अधिक तीव्र हो तो ज्वर हर समय रहता है। अन्यथा सांयकाल को कुछ सर्दी लगकर बढ़ जाता है और प्रातःकाल को उतरते समय बहुत पसीना आता है। रोगी के गालों पर कुछ लालिया प्रतीत होती है।

तृतीय श्रेणी के लक्षण

इस श्रेणी में उपरोक्त सभी लक्षणों की अधिकता होती है। फफेड़ों में गार पड़ जाते हैं। प्रातःकाल खांसी बहुत आती है। कफ बहुत अधिकता से निकलता है, इसमें पीव की मात्रा बहुत अधिक होती है। रात को ज्वर बहुत तीव्र होता है और प्रातःकाल को पसीना इस अधिकता से आता है कि रोगी के कपड़े तर हो जाते हैं। शक्ति क्षीण हो जाती है। बाल गिरने लगते हैं, नाखून सफेद और गोल हो जाते हैं। छाती और पीठ पर झाइयाँ और दाग पड़ जाते हैं। जिह्वा प्रायः लाल और साफ रहती हैं। भूख नहीं लगती और कभी-कभी वमन भी हो जाता है और अन्त को दस्त आने लगते हैं। रोगी सूखकर कांटा हो जाता है। हाथ पैर पर सूजन आ जाती है और अन्त को रोगी बहुत निर्बल होकर मर जाता है। अन्तिम अवस्था में दस्त आना, श्वास उखड़ जाना अथवा हिचकी आना ऐसे लक्षण हैं कि फिर रोगी का आरोग्य होना लगभग असम्भव है।

सारणी १ : क्षय रोग निवारण हेतु यज्ञ सामग्री

क्र.सं	नाम	वानस्पतिक नाम	कुल	उपयोगी भाग	स्टेज-०	स्टेज-१	स्टेज-२	स्टेज-३
1	गुग्गल	कोमिफोरा गुकुल	बर्सेरेसी	निर्यास	+	+	+	+
2	सफेद चन्दन	सैण्टलम ऐलबम	सैण्टलेसी	काण्डसार	+	+	+	+
3	रक्त चन्दन	टेराकार्पस सैन्टेलिनम	लेग्युमिनोसी	काण्डसार	+	-	+	+
4	अगर	एक्विलेरिया अगलोचा	थाईमेलिएसी	काण्डसार	+	+	+	+
5	तगर	वेलिरियाना वालिचिआई	वैलिरियनेसी	मूल	+	+	+	+
6	चिरौंजी	बचनोनिया लेनजेन	एनाकारडियेसी	फूल	+	+	+	+
7	नारियल	कोकस न्यूसीफेरा	पामी	फल	+	-	+	+
8	जायफल	माइरिसटिका फेगरेन्स	माइरिसटिकेसी	बीज	+	+	+	+
9	लवंग	साइजीजियम ऐरोमेटिकम	मर्टे सी	फल	+	+	+	+
10	मुनक्का	वाइटिस विनिफेरा	वाइटेसी	फल	+	+	+	+
11	किशमिश	वाइटिस विनिफेरा	वाइटेसी	फल	+	+	+	+
12	इलाइची	अमोमम ऐरोमेटिकम		फल	+	+	+	+
13	गुलाब	रोजा इण्डिका	रोजेसी	फूल	+	+	-	+
14	हरितकी	टर्मिनेलिया चिबुला	कोमब्रिटेसी	फल	+	+	+	+
15	चावल	ओरीजा सेटाइवा	ग्रेमीनी	फल	+	+	+	-
16	कर्पूर	सिनेमोमम् कैम्फरा	लॉरेसी	तना	+	+	+	+
17	शर्करा	सेकेरम एलबम	ग्रेमीनी	तना	+	+	+	-
18	खर्जुर	फिनिक्स सिल्वेस्ट्रिस	पामी	फल	+	-	+	+
19	गुडूची	टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया	मेनिस्पर्मेसी	पंचांग	+	+	+	+
20	मण्डूकपर्णी	सेण्टेला एशियाटिका	अम्बेलिफेरी	पंचांग	-	+	+	+
21	इन्द्रवारूणी	सिट्रयुलस कोलोसिन्थिस	कुकुर्बिटेसी	फल	-	+	+	+
22	शालपर्णी	डेस्मोडियम गैंगेटिकम्	फेबेसी	पंचांग	-	+	+	+
23	रास्ना	प्लुचिया लैन्सिओलेटा	कम्पोजिटी	पत्र	-	+	-	+

24	गोक्षुर	ट्रिबुलस टिरेस्ट्रिस	जाइगोफिलेसी	फल	-	+	-	+
25	आँवला	एम्बलीका ओफिसिनेलिस	यूफोरबिएसी	फल	-	+	-	+
26	पुनर्नवा	बोर्हेविया डिफ्युजा	निक्टेजिनेसी	तना	-	+	-	+
27	चीड़	पाइनस रोक्सबरधाई	पाइनेसी	तना	-	+	+	+
28	खूबकलाँ	सिसिम्ब्रअम आयरिओ	क्रुसीफर्री	बीज	-	+	-	+
29	जौं	होरडियम बलगैर	ग्रेमिनी	फल	-	+	+	+
30	तिल	सीजेमम इण्डिकम	पेडेलिएसी	बीज	-	+	+	+
31	शतावरी	ऐस्पेरेगस रेसिमोसस	लिलिएसी	कन्द	-	+	+	+
32	बांसा	अधाटेडा वासिका	एकैन्थेसी	फल	-	+	+	+
33	बादाम	परोनस एमाईगस	रोजेसी	फल	-	+	+	+
34	कुकुम	क्राकस सेटाईवस	इरीडेसी	केशर	-	+	+	+
35	कपूर कचरी	हेडिकियम् स्पाइकेटम	जिंजिबेरसी	मूल	-	-	+	+
36	कूठ	सॉसुरिया लैप्पा	कम्पोजिटी	मूल	-	-	+	+
37	कुलंजन	ऐल्पिनिया गलंगा	जिन्जिवरेसी	कन्द	-	-	+	+
38	जावित्री	माइरिसटिका फ्रेगरेंस	मिरिस्टिकेसी	पुष्प	-	-	+	+
39	देवदार	सेड्रस देवदारु	पाइनेसी	काण्डसार	-	-	+	+
40	खस	वेटीवेरिया जिजेनिआयडिसग	ग्रेमिनी	मूल	-	-	+	+
41	हाऊबेर	ज्यूनिपेरस काम्युनिस	पाइनेसी	फल	-	-	-	+
42	नागरमोथा	साइपरस रोटण्डस	साइपरेसी	पंचांग	-	-	-	+

क्षय निवारणार्थ यज्ञ सामग्री के मुख्य संघटकों-आंवला, तिल, शक्कर, लोंग, गुग्गल, जायफल, तगर, अगर, श्वेत, चंदन तथा हरीतकी आदि का वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार है :-

आँवला

वानस्पतिक विवरण : इम्बिलिका आफिसिनेलिस वानस्पतिक नाम वाला यह वृक्ष कुल यूफोरबिएसी का सदस्य है, काण्डत्वक्धूसरपतली, पंखवत व्यवस्थित पत्र पीत वर्ण पुष्प गुच्छों में, पीताभ हरित फल व षट्कोण बीज।

आयुर्वेदिक उपयोग : त्रिदोषनाशक, मुख्य रूपेण पित्तशामक, दाह, पैत्तिक शिर:शूल व मूत्रावरोध में इसका लेप करते है। गर्भाशय दौर्बल्य व मूत्र रोग में आँवला स्वरस देते हैं: खालित्य, पालित्य केश रोगों में उपयोगी तथा त्रिफला के .... में पेटविकारों व नेत्र विकारों की उपयोगी औषधि।

रासायनिक संघटन : गैलिक एसिड, टैनिक एसिड, एल्डूयूमिन, सेल्युलोज इलेजिक एसिड, ल्यूपिऑल, लिनोलेइक एसिड, सेलुलोज व कैल्शियम मुख्य रासायनिक संघटक हैं।

तिल

वानस्पतिक विवरण : 1/2 से 1 मीटर उच्च यह वर्षायु क्षुप कुल पेडेलिएसी का *सीजेमम इन्डिकम* वानस्पतिक नाम से जाने जाने वाला पादप है। पत्र 6 से 12 सेमी लम्बे, पुष्प कोमल लोभयुक्त, बैंगनी श्वेत व पीत चिन्हांकित, फल 3 सेमी तक लम्बा, आयताकार-चतुष्कोणीय।

आयुर्वेदिक उपयोग : त्वचा रुक्षता निवारणार्थ तिल तैल का उपयोग करते है पक्षाघात, अर्दित, वातविकारों, अर्श आदि में विशिष्ट द्रव्यों से संस्कृत कर तेल की मालिश करते हैं। दौर्बल्य में तिल तेल प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संघटन : प्रोटीन, विटामिन ई, फाईटोस्टिरॉल, टीकोफेराल, सीजेमिन, सीजेमोलिन तथा फील फेनॉल योगिक सीजेमॉल मुख्य रासायनिक संघटक हैं।

शर्करा (गन्ना)

वानस्पतिक विवरण : *सैकेरम आफिसिनेरम* वानस्पतिक नाम वाला चिरपरिचित क्षुप कुल ग्रेमिनी का सदस्य है। काण्ड 2 1/2 से 4 मीटर ऊँचा ग्रन्थियुक्त, पत्र पतले, चपटे, पुष्प शाखायुक्त गुच्छों में।

आयुर्वेदिक उपयोग : रक्त पित्त, पीलिया, मूत्रकृच्छ्र, वृक्क रोगों में लाभकारी है। इसके अलावा गन्ना रस सामान्य दौर्बल्य, शुक्र दौर्बल्य में तथा स्तन्यवर्धनार्थ दिया जाता है।

रासायनिक संघटन : मेथिल एपिजेनिन, डाइमेथोक्सी फ्लेवोन ग्लूकोपाइरेनोसाइड, अल्ब्युमिन व कैल्शियम आक्जलेट पृथक् किये गयें है।

लवंग

वानस्पतिक विवरण : *साइजीजियम ऐरोमेटिकम* वानस्पतिक नाम वाला यह सदाबहार 9 से 12 मीटर ऊँचा वृक्ष, कुल मिरेटेसी का सदस्य है। कोमल, अनवरत शाखायें हरित वर्णपत्र, पुष्प सुगन्धित बैंगनी रंग, पुष्प कलिदोही लवंग नाम से जानी जाती है।

आयुर्वेदिक उपयोग : शिरशूल व प्रतिश्याय में ललाट पर लेप करते हैं। मुख रोगों व कण्ठरोगों में लंवग चूसते हैं। चर्म रोगों में लेप करते हैं। तेल का प्रयोग वात विकार में तथा देतशूल में करते हैं।

रासायनिक संघटन : यूजिनॉल, युजिनॉल एसीटेट, कैरियोफाइलिन मेबिलएसेटोफेनॉन, कैरियोफाइलीन, नेफ्थेलीन आदि तत्व सुगन्धित तैल में पाये जाते हैं।

गुग्गल

वानस्पतिक विवरण : *कौमिफोरा मुकुल* नाम वाला, यह छोटा वृक्ष कुल वर्जरेसी का सदस्य है। संयुक्त व एकान्तर पत्र, रक्तवर्ण पंचदल पुष्प, तथा रक्त की लम्बगोल फल। निर्यास मिश्रित वर्ण व सुगन्धि युक्त होता है।

आयुर्वेदिक उपयोग : दुर्गन्ध व कृमि नाशक यह औषधि वात व्याधियों की अचूक औषधि है। यह कफहन, शुक्रदौर्बल्य व कष्टार्त्तव नाशक, अश्मरी नाशक शीतज्वरनाशक तथा वर्ण नाशक औषधि के रूप में प्रयुक्त की जाती है। मूत्रगत विकारों, हृद दौर्बल्य व अग्निमांघ में भी इसका प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संघटन : इसके जड़ में पाये जाने वाले मुख्य संघटक रसायन आश्सोलिनालिल एसेटेट, 3-इपील्यूपेनिल एसेटेट, ल्यूपेऑन, 3-इपी-एल्फा-अमाइरिन, एल्फा-अमाइसैन, बीटा-एडुडेस्मॉल एसेटेट वीटा साइटोस्टरॉल, सेस्क्यूटरपिन्स एल्केहॉल कौमिफेरिन, सेड्रेलॉन, साईडेरिन मेथिलकाउयॉरिन आदि हैं।

जायफल

वानस्पतिक विवरण : *मिरिस्टिका फ्रेग्रेन्स* वानस्पतिक नाम वाला यह वृक्ष कुल मिरिस्टिकेसी का सदस्य है। यह कोमल शाखा युक्त, सुगन्धित र 9 से 12 मीटर ऊँचा, पत्र 7 सेमी0 से 10 सेमी0 लम्बे, चर्मवत्, अंडाकार-आयताकार, पुष्प हल्के भूरे रंग के, पुष्प पीव, छोटे एकलिंगी, फल गोल, बीज अण्डाकार कवचयुक्त।

आयुर्वेदिक उपयोग : वात व्याधि, शूल व जांगम विषों में इसका लेप किया जाता है, अतिसार, विसूचिका, कृमिरोगों में यह महत्वपूर्ण औषधि है। इससे विसूचिका के जीवाणुओं की वृद्धि दर घट जाती है।

रासायनिक संघटन : जावित्री व जायफल से प्राप्त तैल में मिरिस्टीसीन, डी-पाइनीन, डी-कैम्फीन, जिरेनियॉल, सैफ्रोल युजिनॉल तथा सात नये फेनिलप्रोपेन्वाइडस पाये जाते हैं।

तगर

वानस्पतिक विवरण : वालेरिअनेसी कुल का यह बहुवर्षीय रोमश सुगन्धित गोठदार जड़वाला शाक, *वालेरिएना जटामांसी* वानस्पतिक नाम से जाना जाता है। पर्ण मूल से उत्पन्न व गुच्छेदार, 2 से 3 सेमी0 चौड़े दन्तुर पुष्प शाखाग्र गुच्छों में गुलाबी श्वेत वर्ण युक्त होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : दशांगलेप व तगरादि क्वाथ के रूप में पक्षाघात, संधिवात व आमवात में इसका प्रयोग करते हैं। उदरशूल, जलोदर व प्लीहा वृद्धि में यह लाभकर है। विषम ज्वर व जीर्णज्वर में शान्ति हेतु इसका प्रयोग किया जाता है। रक्त विकारों व वात रक्त में इसे दिया जाता है।

रासायनिक संघटन : एक सेस्क्यूटरपिन, 2-फेन्कीन'-सेस्क्यूफेन्कीन आइरिडुआइड ग्लूकोसाइड, जड़से प्राप्त किया गया। इसके अलावा वालेरोसाइडेटम, डिड्रोवाल्ट्रेटम, आइनेरिन, आइसोकेलेरेट एस्टर्स आदि तत्व पाये जाते हैं।

अगर

वानस्पतिक विवरण : *एक्यूलेरिया अगलोचा* वानस्पतिक नाम वाला यह 21 मीटर तक ऊँचा सदाबहार वृक्ष कुल थाइमेलिएसी का सदस्य है। पत्र 5 से 7 सेमी0 लम्बे, पुष्प श्वेत गुच्छों में तथा फल 2-5 सेमी0 लम्बे होते हैं। बाहरी काष्ठ श्वेत-पीताभ व अन्त:काष्ट कृष्ण वर्ण होती है, अन्त:काष्ठ से ही सुगन्धिता अगर की प्राप्ति होती है।

आयुर्वेदिक उपयोग : चर्मरोग व वेदना युक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। मुख की दुर्गन्धिनाश हेतु तथा अग्निमांघ में इसे चबाते हैं। श्वास रोग में अगरु तैल पान में खिलाते हैं। शैय्यामूत्र में भी यह लाभकारी है।

रासायनिक संघटन : पादप निर्यास में अगारेस्टोरॉल, क्रोमोन, 1, 7 - ऑक्सोपॉरफिन, इरियोडेनिन, दो सेझस्क्यूटर्पस मेलेफ्यूरॉन तथा अगॉरॉल पाये जाते हैं।

श्वेत चन्दन

वानस्पतिक विवरण : *सेण्टलम एलबम* वानस्पतिक नाम वाला यह वृक्ष कुल सेन्टेलेसी का सदस्य है जो कि एक उच्च्व अर्धपराश्रयी वृक्ष है, बाहरी काष्ठ श्वेत व निर्गन्ध तथा भीतरी काष्ठ धूसर वर्ण व सुगन्धित होती है। अण्डाकार पर, पीताभ बैंगनी पुष्प तथा अष्ठिल फल पाये जाते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : पैत्तिक विकारो में चन्दन का लेप करते है इसके अतिरिक्त अतिश्वेदजन्य दुर्गन्ध, दाह व चर्म रोगों में भी इसका लेप करते है। जीर्णफास, कफ आदि में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संघटन : पादप से प्राप्त सुगन्धित तैल में, सैंटोलिक एसिड, पॉमिटिक एसिड, ऑलेश्क एसिड, लाइनोलेइक एसिड, ग्लूकोज, फ्रक्टोज, एन ऑक्टाकासानॉल, फाल्मिटॉन, हाइड्रोक्सी पाल्मिटॉन, एल्का-सेन्टालॉल, सैन्टीन, एल्फा तथा बीरा सेन्टालेन्स, टेरे सैन्टानॉल, नॉर-ट्राइसाइक्लोइकार्सिण्टेनॉल, आइसो वालेरल्डेहाइड, 1-सैण्टेनॉन, टेरसैंटेलिक एसिड जाये जाते हैं।

हरीतकी (हरड़)

वानस्पतिक विवरण : कुल कम्ब्रेटेसी का 15 से 24 मीटर उच्च यह हरे भूरे रंग की छाल वाला वृक्ष *टर्मिनेलिया चेबुला* वानस्पतिक नाम से जाना जाता है। पत्र 8 से 18 सेमी0 लम्बे, पुष्प छोटे, पीताभ-श्वेत, फल 2.5 इंच से 5 इंच लम्बा अण्डाकार, एकल बीजयुक्त।

आयुर्वेदिक उपयोग : वात, पित्त व कफ सम्बन्धी सभी बीमारियों में लाभप्रद, श्वास व कास में अतीव उपयोगी। त्रिफला का मुख्य घटक, पाचन सम्बन्धी बीमारियों में महत्वपूर्ण औषधि।

रासायनिक संघटन : पॉमिटिक, स्टेएरिक, ऑलेइक, लाइनोलेइक, एरकिडिक, बेहेनिक अम्ल पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त फल में टैनिन, चेबुलिक अम्ल कोरिलेजिन, फार्स्फोरिक, साक्सिनिक, क्विनिक एसिड पाये जाते हैं।

अत: आरोग्य चाहने वाले मनुष्य द्वारा उसी वेद विहित यज्ञ का अनुष्ठान करना उचित होता है जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीन वैदिक काल में क्षय रोग नष्ट किया जाता था।

शतावरी

वानस्पतिक विवरण : ऐस्पेरेगस रेसमोसस नाम वाली यह कण्टकयुक्त झाड़ीदार आरोहिणी लता कुला *लिलिएसी* का सदस्य है। इसकी शाखायें विकोणयुक्त और रेम्पान्वित होती है। फल मटर के आकार के होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : वातपैत्तिक विकारो, वातव्याधि, अम्लपित्त, ग्रहणी, अर्श, शुक्रक्षय, रक्तप्रदर, मूत्रकृच्छ तथा क्षय रोग में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें अनेक सेपोनित पाए जाते हैं।

वासा

वानस्पतिक विवरण : आघाटोडा वासिका नाम वाला यह झाड़ीदार, क्षुप कुल *एकैन्थेसी* का सदस्य है। इसके पत्र लम्बे, रोमश, दुर्गन्धयुक्त, अंडाकार तथा दोनो छोर पर संकोर्ण होते है। पुष्प-श्वेतवर्ण दिद्वओष्ठी। बीज-छोटे, चिकने, ग्रन्थीमय, सिकुडनयुक्त होते है।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफ, पित्त विकारो, व्रजशोथ, नाड़ी शूल अतिसार, रक्तपित्त, यक्ष्मा, मूत्रकृच्छ और ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें वसा, राल, कार्बोनिक अम्ल, शर्करा, गोंद, रंजक द्रव्य और लवण पाये जाते हैं।

कुलंजन

वानस्पतिक विवरण : ऐल्पिनिया गलंगा वानस्पतिक नाम वाला यह क्षुप कुल, *जिन्जि बरेसी* का सदस्य है। इसके पत्र 1-2 फुट लम्बे, 4-6 इंच चौड़े, हरे तथा स्निग्ध होते है। फल नींबू के समान होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफ, वातज्न्य विकारो, झाईं, नाड़ी दौर्बल्य, उदरशूल, बहुमूत्र, प्रमेह, ध्वजभंग तथा श्वासरोगों में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें फ्लेवोन-कैम्फराइड, गलगिन तथा अल्पिनिन पाए जाते हैं।

द्राक्षा

वानस्पतिक विवरण : वाइटिस विनिफेरा वानस्पतिक नाम वाला यह आरोही लता कुल *वाइटेसी* का सदस्य है। पुष्पदण्ड छोटे होते हैं जिन पर तन्तु सूत्र नहीं होते पुष्प हरितवर्ष तथा गुच्छों में लगते हैं। फल गोस्तनाकार गुच्छों में लगते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह वातपित्तजन्य, मस्तिष्क दौर्बल्य, तृष्णा, विबन्ध, उदार्क्त, हृदौर्बल्य, क्षय, मूत्रकृच्छ, शुक्रदौर्बल्य, त्वचा रोग तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : फलों में ग्लूकोज, टार्टरिक, साईट्रिक, रैसेमिक और मैलिक अम्ल और सोडियम और पोटाशियम क्लोराईड व फास्फोरस और लौह आदि जाते हैं।

गुडूची

वानस्पतिक विवरण : टिनोस्पोरा कोर्डिफोलिया वानस्पतिक नाम वाला यह बहुवर्षिय लता कुल मेनिस्र्पमेसी का सदस्यह है। पत्र हृदयाकार, फल अण्डाकार, चिकने तथा बीज मुड़े होते हैं। पुष्प वर्षा ऋतु में तथा फल शीतकाल में लगते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह जिदोषण विकारो, कफ, कुष्ठ पाण्डू, मधूमेह, जीर्णज्वर तथा विषम ज्वर और शुक्रदौर्बल्य।

रासायनिक संघटन : इसमें बर्नेनिन, ग्लूकोसाईड ग्लिोइन, स्टार्च आदि पाये जाते हैं।

रास्ना

वानस्पतिक विवरण : टलुचिया लैन्सिओलेटा नाम वाा यह झाड़ीदार वृक्ष कुल कम्पोजिटी का सदस्य है। इसके पत्र एकान्तर, लम्बे एवं अवृन्त, पुष्प-श्वेत या बैंगनी होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कब्ज, वेदानायुक्त विकारो, आमदोष, गुल्म, उदरशूल, रक्तविकारो, राज्यक्षमा तथा पीड़ी आदि में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें क्वर्सिटीन, आइजोरेमनेटिन और प्लुचिन होते है।

गोक्षुर

वानस्पतिक विवरण : ट्रिबुलस टिरेस्ट्रिस वानस्पतिक नाम वाला क्षुप कुल-जाइगोफिलिएसी का सदस्य है। इसकी शाखाएँ चारों ओर फैली, पत्र चने के पत्तों की तरह पुष्प छोटे पीतवर्ण फल गोलाकार, काष्ठीय खण्ड युक्त पत्ते खण्ड में दो जोड़े तीक्ष्ण काँटे प्रत्येक खण्ड में बीज होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफ पैत्तिक, कुष्ठ, स्मृतिवर्धक, शक्तिवर्धक, ग्रहमी, रक्तपित्त, प्रमेह गंडमाला, ज्वरहन तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें तेल, रॉल, टैनिन, ग्लाइकोसाइड, स्टीरॉल, नाइट्रेट, हर्मन तथा सेपोनिन होते हैं।

पुनर्नवा

वानस्पतिक विवरण : बोर्हेविया डिफ्युजा वानस्पतिक नामवाला बहुवर्षिय क्षुप कुल निक्टेजिनेसी का सदस्य है। इसके पत्र गोल या अण्डाकार, पुष्प गुलाबी, अवृन्त, छोटे मुण्डकों में होते हैं। पुष्प व फल वर्षाकाल में आते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह त्रिदोवज विकार, नेत्ररोगों, उदररोग, पाण्डु रोग, श्वास, वाजीकरणार्थ, मूत्रकृच्छ, कुष्ठ तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें पुनर्नवीन, पोटेशियम नाइट्रेट, सल्फेट, क्लोराईड, नाइट्रेट और क्लोरेट पाए जाते हैं।

ब्राह्मी

वानस्पतिक विवरण : सेण्टेला एशियाटिका वानस्पतिक नाम वाला सुप वर्षायु कुल अम्बेलिफेरी का सदस्य है। इसके प्रत्येक पर्व में मूल, पत्र, पुष्प तथा फलों का उपगम होता हे। मूल सूक्ष्म और सूत्रवत होते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफपैत्तिक, कुष्ठ, मेघ्य स्मृतिशतिवर्धक ग्रहणी, रक्तपित्त, प्रमेह गंडमाला, ज्वरहन तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें हाईड्रोकोटिलिन, ग्लाईकोसाईड, बैलेरिन पैक्टिक अम्ल,

स्टेशल हैनिन तथा स्टिग्मास्टेरोल आदि पाये जाते हैं।

इन्द्रवारुणी

वानस्पतिक विवरण : सिट्रयुलस कोलोसिन्थिस वानस्पतिक नाम वाली आरोहणी लता कुल कुकुरबिटेसी सदस्य है। पुष्प, घंटाकार, फल-गोल तथा कृष्णाम होते हैं। पुष्प नवम्बर में तथा फल जनवरी में आते हैं।

आयुर्वेदिक उपयोग : यह कफपैत्तिक, व्रणशोथ, विप्रधि, उदररोग, कामला, कासश्वास, कष्टप्रसव, प्रमेह तथा ज्वर में उपयोगी है।

रासायनिक संघटन : इसमें कोलोसिन्थिन, ए-इलेटरिन, हेण्ट्रिएकोटेन, फाइटोस्टेरोल, सेपोनिन, इपुरेना। ल, ग्लाइकोसाइड और टैनिन पाए जाते हैं।

अतः आरोग्य चाहने वाले मनुष्य द्वारा उसी वेद विहित यज्ञ का अनुष्ठान करना उचित होता है जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीन वैदिक काल में क्षय रोग नष्ट किया जाता था।

-डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री
(वेद विभाग),
डॉ० नवनीत, प्रभात, अमित
(सूक्ष्मजीव विज्ञान विभाग)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. अग्निहोत्री, फ, ल, 1949, यज्ञ चिकत्सा, सेठ रत्नाजी, हीरा जी चिकित्सा संस्थान, जबलपुर।
2. अग्निहोत्री, फ, ल, देवयज्ञ, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, अजमेर।
3. चुनेकर, के, सी, 1969, भावप्रकाश निघन्टु कमेटी, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी।
4. जोशी, के, ल, 1999 अथर्ववेद संहिता चौखम्भा प्रकाशन, देहली।
5. कौशिक, पी, व धीमान ए,के, मैडिसिनल प्लान्ट एण्ड रॉ ड्रग्स आर्फ इण्डिया।
6. नाडकरनी, ए, के, 1976, इण्डियन मैटिरियल मैडिका, बोम्बे पापुलर प्रकाशन।
7. लाला शालिग्राम वैश्य और पं0 कान्तिनारायण मिश्र, 1998, अष्टांगहृदयं, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
8. पं0 काशीराम शास्त्री व डा0 गोरखनाथ चतुर्वेदी 1976, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।

एक भूला-बिसरा क्रान्तिकारी

बात बहुत पुरानी है तब विदेशों में जाने का पासपोर्ट भी नहीं लेना पड़ता था। उत्तरीय अमेरिका विशेषकर "कनाड़ा" के घने जंगलों में बन्दूकों के कुन्दे-हथौड़ियों, कस्सिपों, बेलचों आदि औजारों के हत्थे, रेल के डिब्बे बनाने के लिए कीमती लकड़ी पर काम करने के लिए उत्तम कारीगरों की अत्यन्त आवश्यकता को देखते हुए भारत-सरकार की दृष्टि पंजाब पर पड़ी। क्योंकि यूरोपियन कारीगर अत्यन्त महंगे पड़ते थे। मेहनती भी कम थे अत: भारत के "बढईयों" को वहाँ ले जाकर बसाने का उपक्रम बनाया गया। हजारों सिक्ख और अन्य हिन्दू, मुसलमान वहाँ अधिक पैसा प्राप्त करने की आशा से गए। अब सारे संसार को लकड़ी का सामान वितरित होने लगा। कनाड़ा प्रान्त की आर्थिक दशा में अत्यन्त आशातीत उन्नति हुई। धन भी हमारे श्रमिकों ने खूब कमाया। इतने पर भी गोरें शासकों का व्यवहार हमारे श्रमिको के साथ अपमान जनक ही रहा। उनको कुली व काला आदमी के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

कारण एक मात्र यह था कि हम पराधीन थे। अत: गुलाम गिने जाते थे। यद्यपि हमारे पंजाबी कारीगर सर्वथा अशिक्षित थे तथापि अभी तक उन में आत्मसम्मान की भावना विद्यमान थी। कनाड़ा के अनेक नगरों में इन श्रमजीवियों ने गुरुद्वारे स्थापित किए और अपनी ही भाषा में भजन, कीर्तन प्रारम्भ किए।

स्वामी दयानन्द जी के शिष्य **श्याम जी कृष्ण वर्मा** तथा **वीर सावरकर** के प्रयत्नों से उन में देश प्रेम व आत्मसम्मान की भावना जागृत हो गई। समय भी अनुकूल मिल गया। विश्व का प्रथम युद्ध सन् 1914 का प्रारम्भ हो ही रहा था कि बाबा गुरदत्तसिंह इत्यादि व्यवसायियों के प्रयत्न से इन गुरुद्वारों में देश को स्वतन्त्र करने की भावना अत्यन्त प्रबलता से उद्बुद्ध हो गई। 'गदर' नामक साप्ताहिक पत्रिका द्वारा इसका प्रचार भी आरम्भ हो गया। इस पर वहाँ के गोरे शासकों की नींद हराम हो गई। भारत से आने बाले यात्रियों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए।

इस पर कुछ उत्साही व्यवसायियों व श्रमिकों ने बाबा गुरुदत्तसिंह को आगे करके एक जहाज खरीदा जिसका नाम था "कामा गाटामारु जहाज" जो भारतीय यात्रियों को लाने ले जाने लगा, परन्तु उसे भी बन्दरगाह पर रोककर वापस भारत जाने को बाधित करने पर एक जन-जागृति पैदा हो गई। प्रत्येक 'भारतीय प्रवासी' स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तड़प उठा। उनका नारा था- 'चलो देश पर कुर्बान हो जाइये और अपने देश नू आजाद करिये"। शस्त्रों से लैस सैकड़ों भारतीय श्रमिक जिन में सिक्खों की संख्या अधिक थी, 'कामागाटा-मारु' जहाज से भारत रवाना हो गए। ब्रिटेन के शासक भी सजग हो गए। कलकता बन्दरगाह तक तो चुप रहे परन्तु जब जहाज़ बन्दरगाह से 8-10 मील दूर रह गया तो सैनिकों ने जलपोतों व नोकाओं से उस जहाज़ को रोक कर चारों ओर से घेर लिया। उसे आत्मसमर्पण करने के लिए बाधित किया गया। तोप के गोलों से ध्वस्त करने की धमकी दी गई।

मामूली युद्ध के बाद जहाज पर सेना का कब्जा हो गया। सब यात्री कैदी बनाए गए। हथियार, गोला, बारूद, बन्दूकें, रिवाल्वर जप्त कर जहाज को कब्जे में ले लिया गया किन्तु एक साहसी नवयुवक जिसका नाम 'पृथ्वीसिंह आजाद' था, जहाज से समुद्र में कूद पड़ा। सशस्त्र नौकाओं ने पीछा किया परन्तु वह सबको चकमा देता हुआ समुद्र तट पर स्नान करते यात्रियों व भक्तों में ऐसा विलीन

हुआ कि पुलिस भी उसे न पा सकी। वह कलकत्ते से अपने गांव "चकवाल-भलवाल" में जा पहुँचा और घर पर कृषि कार्य में लग गया। घर पर चचेरे भाई से जमीन के बंटवारे पर झगड़ा होने और उसकी गवाही पर पुलिस के हाथों पकड़ा गया। उधर 'कामागाटामारु' जहाज के यात्रियों की सारी सम्पति जो लाखों करोड़ों रुपये की थी, सरकार ने जप्त कर ली और उन सबको काले पानी का कठोर दण्ड दिया गया। उस में इस नवयुवक पृथ्वीसिंह आजाद को भी कठोर करावास (आजन्म कैद) का दण्ड मिला। पंजाबी होने के कारण उसे मद्रास 'मदुरा' जेल में भेजा गया। वहाँ की खुराक इमली का पानी, लाल मिर्च और घटिया किस्म के चावल थी, जो कि पंजाबी कभी खा न सकते थे। जेल से भागने के उपक्रम में दो बार पकड़े जाने पर उसे पुनः काले पानी (आजन्मकैद) का दण्द सुनाया गया। यहाँ तक की फांसी की सजा भी सुनाई गई परन्तु वह भी आजन्म कैद में परिणित हो गई। कई जेलों में परिवर्तित करते हुए उसे मद्रास की भयंकर जेल (हैवुचल सेंट्रल जेल) में भेजने का आदेश मिला। उसका शरीर हथकड़ी डंडाबेड़ी से कस कर एक दर्जन सिपाहियों के पहरे में स्टेशन लाया गया और मद्रास मेल के एक थर्ड क्लास के डिब्बे में बैठाया गया। डिब्बे में भी ताला लगा था। घन-घोर रात्रि में सब सिपाही ऊँघ रहे थे। उस साहसी ने शनै : शनै अपनी जंजीरें समेटी और खिड़की से थोडा-2 शरीर बाहर सरकाना प्रारम्भ किया। अन्त में उसने चलती ट्रेन से अपना सारा शरीर बाहर गिरा दिया। पत्थरों पर धड़ाम से गिरने की आवाज सुनकर प्रहरी जागे। कैदी को न पाकर गाड़ी की जंजीर खींची गयी। गाड़ी को लौटा कर कैदी की खोज प्रारम्भ हुई परन्तु पृथ्वीसिंह जिसने 'कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्' का दृढ़ संकल्प कर रखा था, उठकर पास के एक काँटेदार थूहर के झुण्ड में जा घुसा। सारा शरीर काँटों से छलनी हो गया परन्तु सांस रोक कर शांतभाव से बैठा रहा। निराश सिपाही गाड़ी पर सवार होकर आगे को रवाना हो गये। सब के चले जाने पर वह नौजवान झाड़ियों से बाहर निकला। सारा शरीर लहूलुहान हो गया था। रेल लाईन से दूर चल पड़ा। समीपस्थ एक गांव के बाहर की तरफ लुहार के घर पहुंचा और विनय पूर्वक बोला मेरे बन्धन काट दो यह सारा लोहा आपका हो जायेगा। पहले तो लुहार डर गया, उसने आना-कानी की किन्तु फिर बहुत कहने सुनने पर और कई किलो लोहे के लालच में आकर उसने बंधन काट दिया।

अब वह भूखा-प्यासा उस प्रान्त की भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ पागलों के समान अर्धनग्न शरीर में कई महीनों की पैदल यात्रा करता हुआ गुजरात प्रांत में आ पहँचा। शरीरिक स्वास्थ्य जाता रहा, शरीर घावों से छलनी हो गया था। आनन्द भावनगर आदि नगरों में भटकते-2 कुछ स्वास्थ्य लाभ कर उसने एक विद्यालय में नौकरी प्राप्त की । वहाँ विद्यार्थियों को लाठी, लेजिम, मलखम्भ तथा जिमनास्टिक का अभ्यास कराया। जिस से सब विद्यालयों में उसकी ख्याति फैल गयी। भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न वेशों में उसने अनेक नगरों में निवास किया। यहाँ तक की राजकोट के सत्याग्रह में तीन मास की जेल भी हो आया। कांग्रेस का सक्रिय कार्य-कर्त्ता बन गया तथा गुजराती विद्यार्थियों में क्रान्ति की भावना भरने लगा। उसने ग्रीष्मावकाश में सारे प्रान्त के सैकड़ों नहीं हजारो विद्यार्थियों को एकत्रित कर भित्र-भित्र विद्यालयों में एक मास का व्यायाम शिविर चलाया।

अन्त में जब भावनगर में मौंटेसरी प्रणाली के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री श्री 'गिजुभाई' के पास पहुँचा तो गिजुभाई जो अत्यन्त पारखी व्यक्ति थे उस हीरे को पहचान गए। एकान्त में उसके पिछले जीवन की जानकारी तथा गत 20 वर्षों के विस्तृत कारनामों की जीवनी प्राप्त कर बोले-यदि आप

अपने नकली रूप को छोड़कर असली रूप में प्रकट होकर कार्य करें तो सम्पूर्ण बम्बई प्रान्त जिसमें (गुजरात प्रान्त भी समिलित था) के मुख्य व्यायाम शिक्षक व इन्सपैक्टर बनाये जा सकते हैं। पृथ्वीसिंह आजाद ने उत्तर दिया-मेरे नाम के वारंट हैं, हजारों रुपये का इनाम मुझे पकड़वाने पर घोषित है। दो-दो काले पानी (आजन्म कैद) का दण्ड घोषित है यहाँ तक की एक दण्ड फांसी का भी मिल चुका है। सरकार की दृष्टि में अत्यन्त भयंकर अपराधी घोषित होने पर मैं कैसे प्रकट रूप में आ सकता हूँ क्योंकि कुछ वर्ष हुए प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद इसी आशय से श्रीं जवाहर लाल जी के आनन्द भवन से निराश होकर लौट आया था। यह सुन कर गिजुभाई बोले यदि आप अवसर दें तो मैं महात्मा गांधी जी से मिलकर आपको सर्वथा मुक्त कराने का प्रयत्न कर सकता हूँ।

आजाद की स्वीकरोक्ति पर गिजुभाई बम्बई में समुद्र तट पर जुहू नामक एकान्त स्थल पर जहाँ तुरन्त जेल से रिहा होने पर महात्मा जी एक कुटिया में स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे-मिले। सम्पूर्ण बात सुनकर गांधी जी ने इतना ही उत्तर दिया कि "यदि पृथ्वीसिंह आजाद मेरे सामने आत्मसमर्पण करके सम्पूर्ण अपना पुराना जीवन सत्य-सत्य वर्णन करें तो अवश्य ही उसे मुक्त कराने का प्रयास करूँगा। ऐसा ही हुआ भी। आज़ाद ने जुहू में जाकर गांधी जी के सामने आत्म समर्पण कर अपनी गत जीवनी विस्तार से सुना दी। इस पर महात्मा जी बोले-मेरी अन्तरात्मा की आवाज है कि तुमने सत्य-2 सब बात मुझे सुना दी है मैं तुम्हें सर्वथा मुक्त कराने का प्रयास करूँगा। पर यह सोच लो कि यदि मैं तुम्हें पुलिस को सौप दूं और पुलिस मेरी प्रार्थना को अस्वीकार कर न्यायालय द्वारा फांसी पर लटकाने का आदेश दे दे तो तुम क्या करोगे?

इस पर अत्यन्त आह्लाद से प्रसन्न मुद्रा में आजाद बोला-"महात्मा जी, जब मैंने आपको अपना 'आत्म-समर्पण' कर दिया है उस अवस्था में मैं अब चिन्ता मुक्त हूँ। अब चाहे मुझे फांसी हो या काला पानी या अन्य यातना मिले मैं सहर्ष सब कुछ स्वीकार करूँगा।

'अच्छा! तो सावधान!' इतना कह कर महात्मा जी ने टेलीफोन उठा कर पुलिस मुख्य कार्यालय 'काकड़ वाड़ी' से फोन मिलाया। आवाज आई 'हैलो! कौन बोल रहा है?' मैं गांधी जुहू से बोल रहा हूँ। आप कौन बोल रहे हैं।" दूसरी तरु से आवाज आई-'मैं बम्बई प्रान्त का बड़ा पुलिस इन्सपैक्टर बोल रहा हूँ, आज्ञा कीजिए! क्या सेवा करूँ।''गांधी जी बोले मेरी कुटिया में आज से लगभग 25 वर्ष से फरार आपका एक क्रान्तिकारी बन्दी पृथ्वीसिंह आजाद बैठा है। मैं उसे आपको सौंपना चाहता हूँ। परन्तु यह बताएं कि क्या आप उसे मेरी जमानत पर छोड़ सकते हैं? "पुलिस अधिकारी ने उत्तर दिया खेद है यह बात मेरे अधिकार से बाहर है। मैं तो आपकी आज्ञानुसार उसे पुलिस हिरासत में लेकर पंजाब के मुख्यमन्त्री श्री सिकन्दर हयात तक पहँचा सकता हूँ। आगे आप जानें और वे जानें"। " तो फिर पधारिये" इतना कहकर गांधी जी ने फोन रख दिया।

कुछ ही मिनटों में पुलिस आफिसर सशस्त्र सिपाहियों के साथ गांधी जी की कुटिया पर आ पहुँचा। इशारा करते ही, आजाद को गिरफ्तार कर पुलिस स्टेशन ले जाया गया। वहाँ से कड़े पहरे में पंजाब की राजधानी लाहौर और वहाँ से भी 'रावल पिंडी' सैट्रल जेल में।

गांधी जी ने (कांग्रेस और मुस्लीम लीग) की मिलीजुली मिनिस्टरी के मु0 मन्त्री 'सिकन्दर हयात खाँ के पास अपने सैकरेटरी श्री महादेव भाई को सारा किस्सा समझाकर लिखित रूप में केस को प्रस्तुत करने के लिए भेजा। अनेकों बार पत्रोत्तर के आदान-प्रदान के बाद और न्यायालय में केस का नाटक कर कुछ ही सप्ताहों में 'पृथ्वीसिंह आजाद'' को 10 वर्ष की कैद का आदेश मिला। इसी बीच में गांधी जी के मन्त्री श्री प्यारेलाल व महादेव भाई बारी-बारी से रावलपिण्डी जेल में पृथ्वीसिंह से मुलाकात करने सेवाग्राम से जाते रहे, गांधी जी की सलाह के अनुसार आजाद ने अपना कैदी जीवन बिताना आरम्भ कर दिया। सैंट्रल जेल में ढाई-तीन हजार कैदी थे। पृथ्वीसिंह के प्रयास से चरखे के साथ हाथकरघे द्वारा बुनाई का काम प्रारम्भ हो गया। यहाँ तक की जेल में भयंकर सरहदी पठान कैदी भी उसके आचरण व आदेश से शांत प्रकृति के बन गए।

अब जेल अधिकारियों और कैदियों के साथ नित्य का सिरदर्द व संघर्ष समाप्त हो गया। रावलपिण्डी जेल एक आदर्श सुधार-गृह बन गया, गांधी जी के सतत प्रयासों से व 'आजाद' के उत्तम व्यवहार से प्रसन्न व सन्तुष्ट होकर पंजाब सरकार ने कुछ वर्ष पश्चात् ही सम्मान पूर्वक पृथ्वीसिंह को स्वतन्त्र करने का आदेश दे दिया।

एक दिन प्रात: प्रार्थना सभा के उपरान्त गांधी जी सेवाग्राम में कुछ कांग्रेस के नेताओं के साथ विचार-विमर्श कर रहे थे कि पंजाब पुलिस का एक इन्सपैक्टर उनके प्राईवेट सैक्रेटरी महादेव भाई व प्यारेलाल के साथ एक अज्ञात व्यक्ति को लेकर कुटिया में प्रविष्ट हुआ। शिष्टाचार के अनन्तर यह कह कर कि अपना भेजा फरार व्यक्ति स्वीकार करें।

समस्त समाचार पत्रों ने इस घटना को मुख्य पृष्ठ पर छापा तथा संसार के राजनीतिज्ञों ने गांधी जी का लोहा माना। अब आजाद पुन: बम्बई सरकार के मुख्य व्यायाम शिक्षक पद पर कार्य करने लगा। एवं एक कर्मठ गुजराती कन्या से विवाह बंधन में बंधकर गुजरात का सच्चा सेवक व नागरिक बन गया।

स्व0 पंडित चन्द्रकेतु जी
भू.पू.अधिष्ठाता-विद्यालय
गु0 कु0 कांगड़ी ।

लेखनी के धनी

लेखनी के धनी, गर बिक जाएंगे।
गूंगा होगा वतन, जुल्म बढ़ जाएंगे।।
सुनेगा नहीं कोई, जज्बात को।
नोच खायेगा स्वार्थ तेरे भाव को।
लेखनी गर रुकी, दर्द बढ़ जाएंगे.........
जेब भर कर न कोई हुआ है अमर।
नेक नियत ही करती है सबको अमर।
लेखनी गर बिकी, हाथ कट जाएंगे.......
जिनका कोई नहीं उनके अपने हैं हम।
सबके जाने हैं हमने ही दर्दो-सितम।
रुक गयी गर गति, शब्द मर जाएंगे.......
मीठी ताने न कोयल, सुना पायेगी।
चहकना भी ये बुल-बुल भुला जायेगी।
सूना होगा चमन, नीड़ जल जाएंगे.......
भाषा बिक जाएगी, भेद बढ़ जाएंगे।
आदमी, आदमी से दूर हो जाएंगे।
स्वर को बांधा अगर, छन्द मर जाएंगे.....
भ्रष्ट जीवन की बोली, बोलेंगे सब।
डूब जायेगी किश्ती, डूबेंगे सब।
लेखनी जो बिकी, स्वप्न झर जाएंगे......
प्यार के गीत पर, वज्र गिर जाएगा।
क्रान्ति-ज्वाला पे पानी भी पड़ जाएगा।
लेखनी गर डरी, भाव डर जाएंगे......
घूसखोरी व चोरी, बढ़ेगी यहाँ।
शान मिट्टी में अपनी मिलेगी यहाँ।
लेखनी गर झुकी, लोग झुक जाएंगे....
कौन पूछेगा मीरा, व रसखान को।
सूर-तुलसी के प्यारे,भगवान् को।

लेखनी गर बिकी, गीत बिक जाएंगे.....
गीत कोई भी ऐसा, न गा पाओगे।
राष्ट्रकी वन्दना भी, न कर पाओगे।
लेखनी गर रुकी, मन बिखर जाएंगें.....
दुखडा अपना न कोई सुना पायेगा।
मन के भीतर ही घुट कर रह जायेगा।
लेखनी गर थकी, भाव थक जाएंगे.....
इक जल-जला आ रहा, इसलिए कह रहा।
उठके होओ खडे क्यों सोये पड़ें।
लेखनी गर जगी, लोग जग जाएंगे.......
देश की रूह में, शोले भर कर जियो।
'हल्दी घाटी' व 'जौहर' की भाषा लिखो।
भाव,भाषा संवारों, मन बदल जाएंगे.....
गुप्त, दिनकर, निराला, सा लेखन लिखों।
'भारतेन्दु' व 'टण्डन' सा जीवन जियो।
स्वर को ऊँचा करो, भेद मिट जाएंगे.....
प्यार की बात को, प्यार से ही लिखों।
न सोचो अधिक कुछ तो अपना लिखो।
'नीर' लिखते रहो, दिन संवर जाएंगे....

14 सितम्बर दिन्दी-दिवस

महावीर 'नीर'
गुरूकुल काँगडी,
विश्वविद्यालय
ज.प.- हरिद्वार

STUDY OF DISEASE SPREAD IN AGE BASED HUMAN POPULATION BY MATHEMATICAL APPROACH

ABSTRACT

In this paper the basic problem is to describe the spread of an infection within a population. For example consider a small group of individuals who have a communicable infection being inserted into a large population of individuals capable of "catching" the disease. Then an attempt is made to describe the spread of the infection in the larger group. To do this. certain assumptions are required to describe the characteristies of the disease and the mixiog of the From these assumptions a mathematical model is formulated. In the mathematical theory of epidemics a variety of different approaches are utilized. The models under considerations are deterministic i.e. they use differential equations to describe changed in the population.

INTRODUCTION

To introduce. the basic ideas we describe first a model due to Kermack and McKendriç (1926, 1927, 1932). The population is divided into three disjoint classes of individuals:

(S) The susceptible class. i.e. those individual who are not infective but who are capable of contracting the disease and becoming infective.

(I) The infective class, i.e., those individuals who are capable of transmitting the disease to others.

(R) The removed class i.e. those individual who have had the diseas and are dead or have recovered and are permanently.
immune, or are isolated until recovery and premanent immunity occur.

The spread of the infection is presumed to be governed by the follwing rules:

(i) The rate of change in the susceptible population is proportional to the number of contacts between members of classes (S) and (I), where we take the number of contacts to be proportional to the product of the number of members of (S) and the number of mimbers of (I).

(ii) Individuals are removed from the infectious class (I) at a rate proportional to the size of (I),

(iii) The population is constant.

Hypothesis (i) is a statement of the law of mass action and assumes uniform mixing of the population- contact depends only on the numbers in each class. This is neasonable if the population consists of Students in a school.where changing classes. attending athletic events, etc., mix

the population. It would not be true in an environment where socio- economic factors have a major influence on contacts.

Hypothesis (ii) states that recovery is equally likely among infectives, and in particular does not take into account the length of time any particular individual gas been an infective. This is an attempt to use a "statistical quantity," the proportion recovering, to replace an accounting of an individual basis. Later we will see that (ii) yields the survival probability of an infective (as an infective).

Hypothesis (iii) states that we are considering a closed population, in particular, ignoring births, deaths, immigrations, etc,

The classical deterministic models can be divided into two broad categories depending upon the type of the disease under investigation.

(a) S-I-S MODEL

(b) S-I-R MODEL

The S-I-S models are appropriate for some bacterial agent diseases such as meningitis. plague. veneral diseases and for parasitic disease such as malaria and sleeping sickness in which individuals move from susceptible class to the infective class and back to the susceptible class after recovery. On the other hand, the S-I-R models are suitable for viral agent diseases like measles, mumps and smallpox in which individuals recover with immunity. Besides these two models a third model known as S-I model has also been constructed in order to deal with cases in which susceptible individual gets infected and he does not recover.

We treat the population as a continuum. If we denote by S (t). I(t). R(t). the number of individuals in classes (S),(I).(R) respectively. at time t, (i),(ii),(iii) yield the following S-I and S-I-R epidemic model:

$$\frac{dS}{dt} = rSI + yI \text{----------} (1)$$

$$\frac{dI}{dt} = rSI - yI \text{-----------} (2)$$

and

$$\frac{dS}{dt} = rSI \text{-------------} (3)$$

$$\frac{dI}{dt} = rSI - yI \text{-----------} (4)$$

$$\frac{dR}{dt} = yI \text{-------------} (5)$$

One of the deficiencies of the above ordinary differential equation model is that they do not take into account any age structure which in many situations can influence population size and growth in a major way. So we consider here a first extension to include age dependence in the birth (b) and death (u) rates. The demographic rates taken as a function of age: a: for man, for example, qualitatively look like the curves in figure below :-

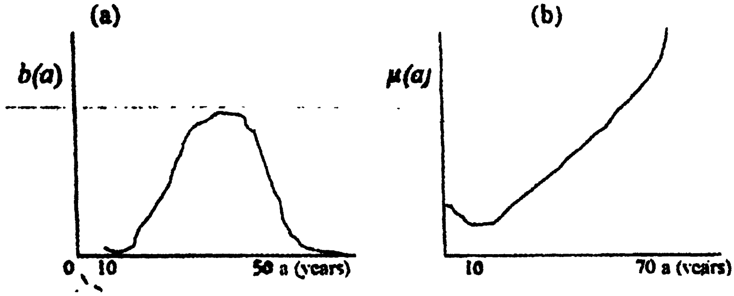


Fig :- Qualitative birth (a) and death (b) rates for man as function of age in years.

The term age is a broad meaning term. In epidemiology by age one mean chronological age i.e. the elapse of time since birth, and a class age which gives the elapsed time since entering a specific demographic or epidemiologic class of the population. Though the importance of chronological age for epidemic modelling was recognised (Kermack and Mc Kendrick, 1932), class age has been incorporated much earlier than chronological age into epidemic models. (McKendrick, 1926), Kermack & Mc Kendrick (1927, 1932, 1933), In many diseases the chronological age of the individual is an important factor in assessing his vulnerability and infectiouaness. For example, the data quoted by Bernoulli (1760) on the incidence and severity of smallpox with age is a vivid illustration, vulnerability and mortality go down markedly with age. A variety of age dependent models are discussed in the book by Hoppensteadt (1975), Dietz (1982), proposes such a model for river blindness (onchocersiasis) and uses it to compare various possible control strategies. The books by Charlesworth (1980) and Metz and Diekmann (1986) provide a good survey as well as the wide spectrum of applicability of age structured models.

Reason for Incorporating Age-structure into Epidemic Models :

The biennial outbreaks of measles have fascinated mathematical modelers of infections diseases for many years and different mecha

nism have been suggessted to explain their occurrence (Schenzle (1984), Hethcote, Stech and van Driessche (1981). Aron (1989), and Hethcote and Levin(1989). Schenzle convincingly argues that the outbreak patterns are presumably caused by the interaction of age stucture and seasonal forcing due to the school system, however his work does not completely clarify the mathematical mechanism which cause the biennial oscillations, Several authors- Andreasen (1989 a,b), Busenberg, Cooke and lannelli (1988), Busenberg; lannelli and Thieme (1991), Greenhalgh (1987, 1988 a,b), Gripenberg (1983), Inaba (1990) therefore studied the question whether the introduction of age-structure alone can be responsible for undamped oscillations in endemic models, which have a stable endemic equilibrium without age-structure.

Moreover, the spread of sexually transmitted diseases in a heterosexual population depends heavily on the age structure of the population. However, there are at least four other reasons for incorporating age-structure into epidemic models :

(i) assessing the demographic impact of infectious diseasses with significant fatalities e.g.Bernoulli (1760), McLeam (1986) and May, Anderson and McLean (1988, 1989);

(ii) the estimation of parameters from age-specific data, Dietz (1975), Anderson and May (1982, 1985), Dietz and Schenzle (1985a), Aron (1989):

(iii) the protection of age-specific risk-groups (like in the case of rubella), e.g. Knox (1980), Dietz (1981), Anderson and May (1983), Katzman; Dietz (1984) and Hetheote (1988, 1989);

(iv) the design of vaccination program e.g. Dietz (1981), Anderson and May (1982, 1983, 1985), Anderson, Grenfell and May (1984), Katzmann and Dietz (1984), Schenzle (1984, 1985), Hetheote (1988, 1989), Aron (1989).

Thus age structure must be incorporated into a realistic model. The importance of age structure in disease transmission is well recognised and in the last few years several models including chronological age have been discussed. This is an area where mathematicians and biologists have been interacting successfully.

Population Model with Age Distribution :

Consider an age structured population whose age-density at time is given by n(a,t) such that

$$N(t) = \int_0^\infty n(a,t)da \text{ ----------------(6)}$$

gives the population size at time I,

Let B (a) and u (a) be the age specific fertility and mortality respectively.

In a small increment of time *dt* the number of the population of age a that dies is

$$\mu(a)\ n(a,t)\ dt$$

The birth rate only contributes to *n(0,t)*; there can be no births of age *a* > *0*, The conservation law for the population now says that

$$dn(at) = \frac{\partial n}{\partial t}dr + \frac{\partial n}{\partial a}da = -\mu(a)n(a,t)dt - - - - - - - - (7)$$

The term is the contribution to the change in *n(a,t)* from individuals getting older. Dividing this equation by *dt* and noting that *da/dt =1* since a is chronological age, *n(a,t)* satisfies the linear partial differential equation

$$\frac{\partial n}{\partial t} + \frac{\partial n}{\partial a} = -\mu(a)n, - - - - - - - - - - (8)$$

which holds for t > 0 and a > 0.

Equation (8) is a first order partial differential equation and in often referred to as the Von Foersher equation, which requires a condition on *n*(a,t) in t and in a. The initial condition,

$$n(a,0) = f(a) - - - - - - - - -(9)$$

indicates that the population at time t=0 has a given age distribution f (a). The other boundary condition on age 'a' comes from the birth rate and is

$$n(0,t) = \int_0^\infty \beta(a)n(a,t)da - - - - - - - - (10)$$

where, for mathematical complicity, we have taken the upper limit of ∞ for the age; of course will tend to zero for large a, as in fig. 1 (a) for example, and so we could replace ∞ by a_m say where $\beta(a) = o\ for\ a > a\ m\ r$ The equation (8) arises in a variety of different disciplines and theoretical biology areas, cell proliferation models for example. In such models we are mainly interested in the long time behaviour of birth and death rates on the growth of the population.

AGE STRUCTURED S-I-R EPIDEMIC MODEL :

Epidemic models of the S-I-R type have been studied in detail (Busenberg et. al., 1988, 1991) and a sharp threshold results has been established together with the global asymplotic behaviour of the disease.

Several authors (Anderson and May; 1983; Gripenberg, 1983; Schenzle, 1984; Tudor, 1985; Greenhalgh, 1988) have considered age structured S-I-R models that describe the most commen chilehood diseases such as measles, rubella, etc. Most of these models include an inter cohort transmission mechanism i.e. disease transmission to any given age class depends on the total number of infections, possibly through an age dependent proportionality constat : namely the rate at which suseceptibles of age a become infected at time *t* is assumed as

$$\kappa(a)\int_0^\infty I(\sigma, t)\,d\sigma$$

Where *I(a, t)* in the density function of the infections at tice *t*.
Inter cohort transmission is however only an extreme case in possible mechanism of disease transmission among different age classes : Inaba (1990) has analysed a general case where disease transmission at age a at time t is given by :

$$\int_0^\infty \kappa(a, \sigma)^{I}(\sigma, t)\,d\sigma$$

Since the general case is not fully understood, another extreme case, called Pure intra-cohort transmission, in which the rate at which susceptibles of age a become infected is

$$\kappa(a)I(a, t)$$

with this assumption any individual can be infected only by those having exactly its own age; therefore the function proceeds independently in the various age cohorts. Since infection proceeds within each cohort, the infection process cannot start unless one introduces some infections into each cohort : this can occur through immigration or because of vertical transmission at birth.

Here, we consider the spread of an infectious dissease whidh does not affect the mortality and reproduction rates, i.e. leaves the overall population dynamics unchanged. We ignore a possible latency period and assume that the disease induces permanent immunity after recovery. To set up the model - following Dietz (1975) or Hoppensteadt (1974) - we subdivide the age-density *n(a,t)* at time *t* into

$$n(a,t) = S(a,t) + I(a,t) + R(a,t) \text{ -----------(11)}$$

with S(a, .). I (a, .). R(a, .) denoting the age-densities of the susceptible, infective and removed individuals. We assume that every neonate is susceptible, We ignore immunity induced in newborns by maternal antibodies :

$$\frac{\partial S}{\partial t} + \frac{\partial S}{\partial a} = -\mu(a)S(a,t) + \lambda(a)S(a,t)$$
$$\frac{\partial I}{\partial t} + \frac{\partial I}{\partial a} = -\mu(a)I(a,t) + \lambda(a)S(a,t) - \gamma(a)I(a,t) \text{ --------- } (12)$$
$$\frac{\partial R}{\partial t} + \frac{\partial R}{\partial a} = -\mu(a)R(a,t) + \gamma(a)I(a,t)$$
$$S(0,t) = \int_0^{\infty} \beta(a)n(a,t)da$$
$$I(0,t) = R(0,t) = 0$$
$$\lambda(t) = \int_0^{\infty} \kappa(a)I(a,t)da$$
$$\lambda(t)$$

$\lambda(t)$ is the rate of susceptible individual to be infected at time t. Notice that this infection rate is the same for susceptibles of all ages. Actually we have made the simplifying assumption that the transmission of the disease - described by K - from an infective individual to a susceptible individual only depends on the age of the infective individual and not on the age of the susceptible individual. Assuming an age-independent removal rate (a).
Notice that the equations are consistent with (8), (10) if n is related to S,I,R with (11).
In order to obtain a time autonomous problem we assume that the population is in an equilibrium state, i.e. its size and age-distribution are independent of time. This is feasible if and only if

$$R\rho = \int_0^{\infty} \beta(a)P(a)da = I \text{ ------------------ } (13)$$

where

$$P(a) = \exp\left\{-\int_0 \mu(\sigma)d\sigma\right\} \text{ --------------- } (14)$$

is the probability of surviving to age a. is the basic reproductive numberof the population, i.e. the mean number of offspring an average individual produces during its life. An easy computation shows that the equilibrium age density is given by

$$n(a) = \frac{NP(a)}{L} \text{ -------- } (15)$$

With the stationary population size N and the life expectation

$$L = \int_0^{\infty} P(a)da.$$

The assumption of a stationary atate for the population under (13) is justified by the celebrated renewal theorem- Sharpe and Lotka (1911) for the formulation- which states under realistic conditions that the age distribution (15) is approached after sufficiently long time from whatever initial distribution

the population has started. the equation for the infective force then takes the form

$$\lambda(f) = \int_0^\infty \frac{\kappa(a)NP(a)}{I} I(a,t)da \text{ --------- } (16)$$

The analysis fo the above structure $S \to I \to R$ model shows that it has an unstable endemic equilibrium at certain parameter values, if the rate of a susecptible individual to be infected is independent of its age but, as for the age of the infective individual, is highly concentrated in a specific age class. Typically this happens if. in addition, the incidence of the disease and the mean age of infectivity are relatively high. Though basic assumption-age-indipendent susceptibility and highly concentrated age-dependent infectivity - does not seem to be realistic, the above resuly is important in so far as it tells us that stability of the endemic equilibrium in an age structured endemic model can not betaken for granted but requires a sound analytical or numerical investigation.

Al though there are many methods of analyzing the epidemic models viz., analyzing through obtaintng characteristic equations, similarity transformation etc. However, every model aims to prove the existence of an important parameter, threshold parameter, from which long time effects of alterations in population via demographic agents or otherwise can be assessed.

From the many interesting problems in the age-dependent epidemiology of infectious diseases, this note only deals with the question whether the introduction of age- structure can make an otherwise stable endemic equilibrium unstable. In other works : Are age-dependent rates of infection and/ or of (natural) mortality possible sources of undamped oscillations of the disease prevalence. It is well known that $S \to I \to S, S \to I \to R(\to S)$ and

$S \to E \to I \to R(\to S)$

models - with exponentially distributed periods of laxency, infection and immunity, and with bilinear incidence rate, but without age-structure and seasonal forcing-exhibit a unique locally asymptotically stable endemic equilibrium if the basic reproductive number exceeds. I. For $S \to I \to S and S \to I \to R(\to S)$ type models the endemic equilibrium is not only locally but globally asymptotically stable. For the $S \to I \to R(\to S)$ model, this is conjectured also, but has not yet been proved (as far as the another dnows). Hethcote (1976), e.g. for $S \to I \to S and S \to I \to R$ type models and Liu, Hethcoteand Levin (1987) for $S \to E \to I \to R(\to S)$ models.

M.P. CHAUDHARY
Department of Mathematics, University of Delhi
Delhi-110007, India

REFERENCES

1. Anderson, R.M., May, R. (1982); Directly transmitted infections diseases, Control by vaccimation Science 215, 1053 - 1060.
2. Anderson, R.M., May, R.M. (1983): Vaccination against rubella and measles: quantitative investigations of different policies. J.Hygiene 90, 259-325.
3. Anderson, R.M: Grenfell, B.T., May, R.M. (1984) : Oscillatory fluc tuations in the incidence of infectious diseases and the impact of vaccination : time series analysis. J.Hyg. Camb. 93, 587-608.
4. Anderson, R.M., May, R.M. (1985): Age-related changes in the rate of disease transmission : implication for the design of vaccination programmes. J.Gyg. Camb. 94, 365-436.
5. Andreasen,V. (1989,a) : Multiple time scales in the dynamics of infectious dis eases. Mathematical Approaches to Problems in Resource Man agement and Epidemiology. Lecture Nates in Biomathematics, 81, 142-151, Springer-verlag, Berlin-Heidelberg-New York.
6. Andreasen, V.(1989,b): Disease regulation or age-structured host populations. Theor. Pop. Biol. 36, 214-239.
7. Aron, J.L. (1989): Simple versus complex epidemiological models. Applied Mathematical Ecology, S.A. Levin, T.G. Hallam, L.J. Gross, eds., Lecture Notes in Biomathematics, 18, 176-192, Springer-Verlag, Berlin-Heidelberg-New Tork.
8. Bernoulli, D: Essai d'une nouvelle analyse de la mortalite causee par la petite verole, et des avantages de l' inoculation pour la prevenir. Histoire de l' Acad. Roy. Sci. (Paris) avec Mem. Des Math. And Phys., Mem., 1-45 (1760).
9. Busenberg, S., Cooke, K.L.Iannelli, M. (1988): Endemic thresholds and stability in a class of age-structured epidemics. SIAM J. Appl. Math. 48, 1379-1395.
10. Busenberg, S., Iannelli, M. Thieme, H.R. (1991): Global behaviour of an age-structred S-I-S epidemic model. SIAM J. Math. Anal.
11. Busenberg, S., Iannelli, M. Thieme, H.R. (1991): Global behaviour of an age-structred S-I-S epidemic model. The case of a vertically transmitted disease.
12. Charlesworth, B.: Evolution in age-structured populations. Cam bridge: Cambridge University Press 1980.
13. Dietz, K. (1975): Transmission and control of arbovirus diseases. Epidemiology, D. Ludwig. K.L. Cooke, eds., 104-121, SIAM.
14. Dietz, K. (1981): The evaluation of rubella vaccination strategies. The Mathematical Theory of the Dyanmics of Bioloical Population II, Hiorms, R.W., Cooke, D., eds., 82-97, Academic Press.
15. Dietx K: The population dynamics of onchocersiasis In: R.M. Anderson (ed.) Population Dynamics of Infectious Diseases. london: Chapynan and Hale 1982, pp. 209.291
16. Dietz, K., Schenzle, D. (1985a):Mathematical models for infectious disease statistics. A Celebration of Statistics. The ISI Centenary Volume, Atkinson, A.C., Fienerg, S.E. eds. 167-204. Springer- Verlag, Belin-Heidelberg-New York.
17. Greenhalgh, D. (1987): Anlaytical results of the stability of age-struc tured recurrent epidemic models. IMA J. Math. Appl.Med.Biol.4, 109- 144.